भूमिका

"...और इबादत से फ़ायदा ? जो ख़ुदा हमारी ग़रीबी दूर नहीं कर सकता, हमारे सुख को हम से ज़बर्दस्ती छीन लेता है, उसकी इबादत--अपने ऊपर ज़ुल्म करने वाले की ख़ुशामद किस लिए ?"

—'ईद का चाँद'

❀ ❀ ❀ ❀

"...गंगा के वक्षस्थल पर एक काला दाग़, देश के शरीर में कारबंकल फोड़े के समान घातक; धर्म की टट्टी की ओट में जहाँ खेले जाते थे बड़े-बड़े शिकार; प्राचीन रोम के पादरियों के समान पूँजीपति, पाखंडी, पंडितों और पुजारियों का एक मात्र साम्राज्य; उसका नाम था काशी, बनारस।"

—'पन्द्रह तारीख़'

❀ ❀ ❀ ❀

"ठेकेदार रामासरे की आमदनी का सिलसिला जारी था। अगर वह कहीं भूल से एक बार भी मज़बूती से गड्ढे भरवा दे, तो उसका व्यापार ही चौपट हो जाए। यद्यपि सारी सड़क नए सिरे से बना देने में उसे इकट्ठी आमदनी हो जाती, पर वह तो ज़िंदगी भर के लिए काम का सिलसिला लगाए रखना चाहता था। म्यूनिसिपैलिटी में स्टेशन रोड के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव कुछ नहीं तो छः बार आ चुका था। लेकिन रामासरे कुछ साधारण हथकंडों का आदमी न था; ठेकेदारी का पेशा तो उसका मौरूसी था; अपने जीवन के तीस बरसों में उसने इस पेशे के

दाँव-पेंचों में सिद्धि प्राप्त कर ली थी। वह प्रस्ताव एक बार भी पास न हो सका।"

—'चौराहा'

❀ ❀ ❀ ❀

इन पंक्तियों में काफ़ी तलख़ी, विद्रोह, व्यंग्य और यथार्थता है। इनको पढ़ने से हमारे सामने कान्तिचन्द्र की कहानी-शैली का जो चित्र आता है उसमें भाषा का प्रवाह, यथार्थवादी प्रगतिशील दृष्टिकोण, सरलता और बोधगम्यता स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होते हैं। यों तो कान्तिचन्द्र की कहानियों में दोष हो सकते हैं, किन्तु इन ख़ूबियों का बाहुल्य पाठक को उनमें अवश्य मिलेगा।

कुछ वर्षों से मेरी धारणा होती जा रही थी कि हिन्दी-कहानी पतन की ओर जा रही है। हिन्दी के कहानीकार अपने को पैग़म्बर समझने लगे हैं। एक बार जैनेन्द्र जी से मैंने पूछा—"आप कहानी डिक्टेट कराते हैं, स्वयं क्यों नहीं लिखते? क्या इससे कहानी की कला में दोष नहीं रह जाता?" उत्तर में उन्होंने कहा—"अरे भई, जो जैसे आता है, वैसे ही लिखा देता हूँ। यह सब तो एक्सक्रीटा (मल) की तरह है; इसे फिर उलट-पलट कर क्या देखा जाये!" जिस कथा-साहित्य में ऐसी मनोवृत्ति के प्रमुख लेखक हों, उसका ह्रास तो स्वाभाविक ही है।

पर हिंदी में प्रतिभा का सर्वथा अभाव नहीं है। जो प्रतिभासम्पन्न लेखक हैं वे पथभ्रष्ट हैं और ऐसे मार्ग पर जा पड़े हैं जो विचारक बनने के लिए चाहे सुगम हो, पर कहानीकार बनने के लिए अवश्य ही दुर्गम है। उस दुर्गमता में भटक कर यह अनिवार्य-सा ही था कि नवीन प्रतिभा अपनी मंज़िल भूल जाती! इस सबका मुख्य कारण है प्रेमचंद

के पश्चात् जैनेन्द्र जी का कहानी-क्षेत्र में प्रसिद्ध हो जाना, और फिर नवीन लेखकों द्वारा उनकी शैली का अंधानुकरण किया जाना। जैनेन्द्र जी में प्रतिभा थी, अतः ऐसा होना स्वाभाविक था; किन्तु उनकी वह प्रतिभा कुप्रतिभा (ईविल जीनियस), और पथभ्रष्ट (पर्वरटेड) हो गई; उनकी कहानियाँ धीरे-धीरे विचार-प्रधान होती हुई 'निबंध बनीं' और फिर कुछ भी न रह गईं। अन्य लेखक भी उनका अंधानुकरण करने के कारण उसी उल्टी गंगा में बह गए। जैनेन्द्र जी के इस कुप्रभाव के फलस्वरूप हिंदी में दुरूह, कठिन, कलाहीन, नीरस, बे-सिर-पैर की और तथाकथित मनोवैज्ञानिक कहानियों की ऐसी भयानक बाढ़ आई कि पाठक को कहानी से ही अरुचि हो गई। और यह अरुचि यहाँ तक बढ़ी कि साधारण पाठक किसी भी कहानी-संग्रह को हाथ लगाने से पहले बीस बार सोचने लगा। साथ ही उसकी दृष्टि उपन्यासों की ओर फिर गई। यही कारण है कि हिंदी में आज कहानी की अपेक्षा उपन्यास अधिक पसंद किए जाते हैं, जबकि उर्दू में विगत पाँच वर्षों में इतने अधिक और अच्छे कहानी-संग्रह निकले हैं कि वे विश्व-साहित्य की किसी भी भाषा की कहानियों के बराबर सम्मानपूर्वक रखे जा सकते हैं। उर्दू के सुप्रतिष्ठित और प्रसिद्धतम कहानी-लेखक कृष्णचन्द्र द्वारा सम्पादित 'नए ज़ाविए' (नवीन दृष्टिकोण) नामक संकलन को देख लीजिए, और तब आपको मेरे कथन की सचाई मालूम हो जायगी। प्रेमचंद के बाद उर्दू के कथाकार आगे बढ़ते ही चले जा रहे हैं, जबकि हिंदी के कहानीकार कुछ आगे बढ़कर ही बहक गए।

परन्तु यह देखकर मुझे बहुत ख़ुशी हुई है कि हिंदी कहानी की

ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति फिर विकासोन्मुख हो रही है। सर्वश्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, विष्णु, श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, शिवदानसिंह चौहान, अंचल और कान्तिचन्द्र ने हिंदी कहानी को उचित और उन्नतिशील मार्ग पर ले जाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। वाजपेयी जी की 'चोर', विष्णु की 'अनाश्रिता', चौहान की 'बिटियवा', श्रीमती चन्द्रकिरण की 'मझली बहू', अंचल की 'जीवन के बीच में', और कान्तिचन्द्र की 'चौराहा' अत्यंत श्रेष्ठ और सुंदर कहानियाँ हैं।

'चौराहा' की सभी कहानियाँ पढ़कर मुझे विदित हुआ कि कान्तिचन्द्र उन सभी कुप्रभावों से सर्वथा दूर हैं, जो हिंदी कहानी को 'पतन' के गर्त में ले जा रहे हैं। उनके दृष्टिकोण में स्वस्थता है, और उनकी अभिव्यक्ति में स्पष्टता और ताज़गी है। सीधी अपने अंतिम बिंदु को पहुँचती हुई उनकी कहानियों में न अटपटापन है, न मिथ्या फ़िलासफ़ी और न ही है कलाहीनता। प्रारम्भ में 'ईद का चाँद' से लेकर 'पंद्रह तारीख़', 'मनुष्यता की रूपरेखा', 'मातृत्व की झलक' 'मर्मी' 'शालिनी बी० ए०', 'शेफाली' और अंतिम 'चौराहा' तक एक से एक अच्छे चित्र मानव-जीवन के आपको देखने को मिलेंगे, हालाँकि इनमें अनेक कहानियाँ लेखक ने कच्ची अवस्था में लिखी हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि यदि कान्तिचन्द्र आज जिस समोन्नत प्रगतिशील पथ पर चल रहे हैं उसी पर चलते रहें, तो हिंदी-कहानी को आगे ले जाने का श्रेय अवश्य उनको भी मिलेगा।

दिल्ली,
१६ सितम्बर १६४१

उपेन्द्रनाथ अश्क

चौराहे पर

[एक समीक्षा]

कहानी वह रचना है जिसका आधार विश्व की कोई कैसी भी समस्या हो सकती है, जो मनोवैज्ञानिक सत्य का सहारा लिए हो और बिना कहीं रुके अपने निश्चित ध्येय पर पहुँच कर यकायक समाप्त हो जाये। कहानी का सबसे आवश्यक गुण है उसके वर्णन का इकहरा और रसमय होना—बचपन से लेकर अब तक कहानी की जो अनेक परिभाषाएँ पढ़ी हैं, उनमें से एक यह भी है, या हो सकती है। यों तो 'कहानी जीवन की व्याख्या है', 'कहानी जीवन की मधुर स्मृति है',—जैसी भावुकतापूर्ण और अनिश्चित परिभाषाएँ भी हैं, पर वे मुझे जँचती नहीं और कहानी की मेरी अपनी परिभाषा बहुत कुछ वैसी ही है, जो मैंने शुरू में ही कही है; किन्तु यह कहना भूल होगी कि केवल इन्हीं लक्षणों की परिधि में सम्पूर्ण कहानी समा जाती है, या समा सकती है। 'चौराहा' की दो एक कहानियाँ भी कहानी की उक्त परिभाषा से मेल न खाती हुई भी कहानियाँ ही हैं। वे केवल भाषा-सौंदर्य सेउत्पन्न हुई हैं, पोषित हुई हैं, सफल हुई हैं; कथानक और भाव-व्यंजना तो उन्हें स्पर्श भर करते हैं। 'करुण कहानी' इसीलिये विशुद्ध गद्य-काव्य न होकर कहानी हो गई है। हृदयेश और प्रेमघन की भाषा याद हो आती है उसे पढ़कर। उसका कथानक, उसके भाव, उसकी भाषा—सभी तो हिंदी के साधारण पाठक की साधारण समझ के परे हैं, फिर भी पाठक उसमें बह

जाता है, उसमें रसमय हो जाता है। यों इतना बड़ा रूपक समझने की क्षमता सबमें नहीं होती। ऐसी कहानियों का चलन पहले भी प्रबल नहीं था और आज भी नहीं है।

करुण कहानी के चित्रों में सामञ्जस्य है। उसके रंग कहीं हल्के, कहीं गहरे नहीं। वे विविध हैं, पर एक से हैं। इसमें लेखक की विशेषता है एक सहज सत्य, एक मनोवैज्ञानिक तथ्य, जो छिटपुट से उद्‌गारों में यथा अवसर प्रकट होता रहता है—"न जाने क्यों प्राणी अपने साथी के सुख में सुखी और दुख में दुखी नहीं होते। दूसरों के सुख पर उन्हें ईर्ष्या होती है और उनके दुख के प्रति अन्यमनस्कता, उपेक्षा।"—(करुण कहानी)

बाद की सभी कहानियाँ, जिनमें दो एक रेखाचित्र भर ही हैं, मँजी मँजाई हिन्दी में हैं। शैली प्रायः सभी की एक दूसरे से भिन्न है, पृथक है। *चौराहा* की बहुत बड़ी विशेषता है कि उसकी हर एक कहानी का पात्र, प्लाट, और प्रतिपादन निजी अपनापन लिए हैं। उसकी एक कहानी का पात्र दूसरी कहानी के पात्र में भेष बदलकर नहीं आता, उसमें झाँकता नहीं; एक कहानी का प्लाट दूसरी कहानी के प्लाट में किसी नई परिस्थिति भर का आवरण ओढ़कर प्रकट नहीं होता; इस कहानी का प्रतिपादन—भाषा, व्यंजना, शैली—उस कहानी के प्रतिपादन से सर्वथा भिन्न है; *करुण कहानी* से लेकर *चौराहा* तक सभी कहानियों का अपना अपना व्यक्तित्व है। वे एक दूसरे से कलासूत्र द्वारा संबद्ध हैं, पर परस्पर उलझी हुई नहीं, जैसा कि अक्सर ही अच्छे से अच्छे कहानीकारों में भी मैंने देखा है। शैल शेफाली नहीं, शेफाली शालिनी नहीं; शालिनी शैल

नहीं। फिर सकीना है, नलिनी है, पारबती है, सुभा है, और है किशोरी भी—एक दूसरे से नितांत भिन्न ! ठीक यही बात 'चौराहा' के पुरुष पात्रों के विषय में भी सत्य है। फिर भी लेखक का अपना व्यक्तित्व सभी कहानियों में अपनी अलक्ष्य भावधारा के रूप में चेतन प्राणशक्ति के समान प्रवाहित है; अनेक में भी वह एक रूप है; वह, जो कला है, कला का तत्त्व है।

कहानी द्वारा एक सांगोपांग चित्र अथवा किसी मनोवैज्ञानिक सत्य की समस्या को अंकित करके ही चौराहा-लेखक की लेखनी विश्राम करने लगती है; वह एक शब्द का एक पग भी फिर आगे नहीं रखती, पर वह एक शब्द का एक पग पीछे भी नहीं रहती; उसे जहाँ पहुँचना चाहिए, ठीक वहीं आकर यकायक रुक जाती है। इस कहानीकार की सबसे बड़ी विशेषताओं में से एक यह भी है। साथ ही उसकी अधिकांश कहानियों का अंत अंत से पहले नहीं हो जाता, नहीं खुल जाता; फलस्वरूप वे सतत रसमय बनी रहती हैं। और यह रस-राशि गतिहीन नहीं है—लेखक के सार्वभौमिक एवं वैश्विक चिंतन और मनन की लहरों से वह निरंतर गतिशील रहती है और मानवता के मानस-कूलों का स्पर्श करती है :—

—"मानव की अमानवता के कारण स्वयं मानव ने ही स्वर्ग को सातवें आसमान पर पहुँचा दिया है, पृथ्वी को नरक बनाने के लिए। परन्तु वह सच्चा स्वर्ग नहीं है। वह स्वर्ग की कल्पित छाया है। वहाँ ईश्वर नहीं है।

मानव ही ईश्वर था। मानव का स्वर्ग पृथ्वी पर था।"—फिर उधर

× × × ×

सुभा कहती है—"दिल में कुछ ही हो, लेकिन कार्यों से हमारे दिल की बात खुलनी नहीं चाहिए।"

इन्द्र उत्तर देता है—"यह मानसिक व्यभिचार है। मनुष्य को मन, वचन और कर्म से सच्चा होना चाहिए।" —मर्मी

× × × ×

—"उसका एक पेशा था। लोग कहते हैं वह बीसवीं सदी के हिन्दुस्तानी बाबू लोगों का निवाला था। वह पेशा ग्रेजुएट्स को अमृत था, जैसे मधुमक्खियों को शहद, चीटों को शकर। उस पेशे का नाम था क्लर्की—बीस पचीस रुपए की क्लर्की।" —पन्द्रह तारीख़

मेरी समझ में 'चौराहा' की बड़ी कहानियों में सबसे अच्छी हैं—*मर्मी* और *बटनवाली*; छोटियों में *चौराहा* और *शेफाली*; और रेखाचित्रों में *मनुष्यता की रूपरेखा* तथा *मातृत्व की झलक*। *ईद का चाँद* सरल एवं सहज मातृत्व की भूख की एक घटनात्मक करुण कहानी है। ये सभी कहानियाँ, और ख़ासतौर से *मर्मी*, मानवता के वास्तविक पार्थिव सत्य की भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, यह मैं अधिकार-पूर्वक कह सकती हूँ और यही वह 'कुछ' है, जो मानव के अंतर को छू लेता है, पढ़ने के बाद मन में स्थायी रूप से अंकित हो जाता है और लेखक की सफलता की सनद होता है, हो सकता है। निष्पक्षता के साथ 'चौराहा' की ये कहानियाँ हिंदी की गिनी चुनी श्रेष्ठ कहानियों में रखी जा सकती हैं।

स्वाभिमान और हमारे देश की हड्डियों तक में भिदी ग़रीबी का जैसा स्वाभाविक कलामय चित्रण 'बटनवाली' में है, वैसा हिंदी की अन्य कितनी कहानियों में है, मैं नहीं कह सकती; लेकिन विश्व साहित्य की जितनी

भी श्रेष्ठ कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं, उनमें से दो-चार ही इसके जोड़ की हैं। इसकी टैकनीक में जो आत्मीयता है, मशीनयुग का दुरूह और भारी अभिशाप जो इसके सहज, सरल, संक्षेप संवादों में मूर्तिमान हो उठा है, बटनवाली सकीना और उसके रोज़मर्रा के गाहक की जो स्नेहसिक्त सहृदयता है, सो सभी कुछ सत्य, शिव, सुंदर के कल्याणकारी आँचल की स्निग्ध शीतल छाया में ही है। भाषा में जो थोड़ी सी ब्रज और बरेली की पुट है, उसने 'बटनवाली' का सौंदर्य बहुत कुछ बढ़ाया है।

ग़रीब हिंदुस्तान के स्वाभिमान का चित्र देखिए—

बुंदा—'हाँ साब, बेचारी को खड़े-खड़े बड़ी बेर हो गई, अब तो एक पैसे के लेई लो। बेचारी ग़रीबिन है। और बाबू तुम्हारा एक पैसे में क्या बनता बिगड़ता है,—अल्लाह ख़ुश रक्खे, समझ लेना मोहताज को ही दे दिया।"

मोहताज! और वह बुढ़िया कुछ चौंकी—"न, न बेटा, तो मत ले! मोहताज बनकर पैसा लेना होता, तो भीख न माँगती! इन मिटे बटनों के बनाने में ही क्यों रात-रात भर दीदे फोड़ती!"

और दृश्य-चित्रण देखिए—

"यह कहते-कहते उसका गला भर आया। आँखों में आँसू आ गए, जिन्हें उसने अपनी कलाइयों से चिपटी, फटी मैली चीकट कुर्ती की बाहों से पोंछ डाला।"

—बटनवाली

मर्मी प्रस्तुत संग्रह की सबसे बड़ी और ऊँचे स्तर की मनोवैज्ञानिक कहानी है। पाठक उसे समझ कर भी सहसा उस पर विश्वास नहीं करना चाहेंगे। किंतु अतृप्त आकांक्षाएँ कुचली जाकर किन विकृत रूपों में बदल

सकती हैं, इसका उत्तर 'मर्मी' देगी। *मर्मी* के पात्र शिक्षित वर्ग के हैं और यह मुझे मालूम है कि लेखक ने प्रधान पात्र के मुख से अपने विचार प्रकट भी कर दिए हैं; तिस पर भी उसका चरित्र-चित्रण और कारीगरी बिगड़ी नहीं है। *मर्मी* का यही कलातत्त्व है।

'चौराहा' सबसे अधिक कसी हुई और गठी हुई कहानी है। हमारे मज़दूर वर्ग का यथातथ्य सत्य चित्रण इसमें जीवित है। और इसका अंत कितना करुण...कितना हृदयविदारक है! किशोरी के लिए मन मसोस उठता है, हालांकि कहानी में वह केवल परोक्ष पात्री ही है। अपने प्रिय-पुत्र से दूर जीसुख अस्पताल में भूख का शिकार हो जाता है और इधर—

"उसी समय सेंकी हुई रोटियाँ कठौती से ढँककर, चूल्हे में पानी डाल रोते हुए किसना को गोदी में लिए किसोरी दरवाज़े पर बाट जोहती खड़ी सोच रही थी—'वे अब आते होंगे, अब आते होंगे............"

—चौराहा

शेफाली अपनी शैली की नवीनता से ही अच्छी कहानियों के बीच आ पहुँची है, यों कथावस्तु की कोई विशेषता उसमें नहीं है। शेफाली और निलय कहानी के प्रमुख पात्र और पात्री होते हुए भी क्षण भर के लिए भी कहीं एक स्थल पर भी साथ नहीं आए हैं और उनके 'वर्जित मिलन' की मुख्य घटना—कहानी का आधार—भी परोक्ष में ही रहती है—यही इस कहानी की विचित्र विशेषता है। कहानी विशुद्ध और वर्जित रोमांसमयी होते हुए भी अपने स्रष्टा के शब्द-चयन से विभूषित होकर खिल उठी है। किंतु उसकी अभिव्यंजना शक्ति भी अपूर्व है—

"शेफाली झर-झर कर गिर पड़ी।

उसकी गंध आस-पास बहुत दूर तक फैल गई, लेकिन उसे सूँघ कर लोगों ने ऐसे मुँह बिगाड़ा जैसे वह मोरी की बदबू हो।"

नारी की अवैध प्रणय-लीला पर इससे अधिक लाक्षणिक पंक्तियाँ मैंने अन्यत्र नहीं पढ़ीं।

यों तो मुझे मालूम है कि लेखक ने बंकिम बाबू कभी नहीं पढ़ा, फिर भी 'पन्द्रह तारीख़' का प्रथम परिच्छेद बंगला के उस अमर कलाकार की चुभती शैली का सफल अनुकरण-सा हो उठा है। भारत में शिक्षा भी मँहगी है और उस पर हमारे मध्यवर्ग की बेबसी!—दोनों ही, कथानक के नवीन न होते हुए भी, उसे मौलिक बना देती हैं। फिर भावों का प्रवाह लेखक का अपना है।

'मनुष्यता की रूपरेखा' और 'मातृत्व की झलक' दोनों ही रेखाचित्र सफल हैं। वे प्राणमय भाषा में लिखे गए हैं। वे हमें जैसे जान बूझकर कुरेदते हैं, नोचते हैं और कील की तरह चुभते हैं और हम खीजते नहीं, पसीज उठते हैं। आज की सभ्यता की कृत्रिमता के कलंक जो प्रदर्शित करते हैं वे!

'फिर उधर' सैकिंड क्लास कहानियों में फ़र्स्ट है।

शालिनी, बी० ए० 'चौराहा' की सबसे हल्की कहानी है, जो अपने जानदार संवादों पर जीती है। शिष्ट और परिष्कृत विनोद की भी ख़ासी पुट उसमें है। शेष कुछ नहीं। पढ़कर दिल बहलाने की चीज़ है यह, याद रखने की नहीं। शैली अवश्य ही अशिथिल है।

राजा रानी की कथाओं और कोरे मनोरंजनमय उपदेशों के उद्देश्य से कहानी लिखने का युग बीत चुका है। आज के अधिकांश हिन्दी लेखक साधा-

रण मध्यवर्ग की विषम श्रेणी के विषम जीव हैं। ग़रीबी, बेबसी और पेट की मार उनके आए दिन के निजी अनुभव होते हैं। उनकी ओर से आँखें मूँदकर हवाई महलों में निवास करनेवालों की कोरी भावुक कृतियों में हम कला की देह का कर-स्पर्श भले ही पा लें, पर उसके प्राणों का स्पंदन नहीं पा सकेंगे।

'चौराहा' की अधिकांश कहानियाँ हमारी दैशिक और सामाजिक असमानताओं से उत्पन्न विभीषिकाओं और मनोवैज्ञानिक असंतुलन एवं उलझनों को लेकर अंकित की गई हैं। इनमें रोमांस भी है। विशुद्ध रोमांस को लेकर ही *ममीं* और *शेफाली* की रचना हुई है, किंतु रोमांस के ध्येय से नहीं, रोमांस उनका साध्य नहीं है और न ही लेखक उस रोमांस में स्वयं रसमग्न है। उनकी जन्मभूमि है प्रकृत मानव-वृत्तियों और समाज की विषमताओं का संगम। इसी से सस्ता मनोरंजन और सस्ती भावुकता उनमें नहीं मिलेगी। कला-सुलभ सरसता उनकी बेशक सहज विशेषता है। दो-एक को छोड़कर सभी कहानियों से लेखक की पहुँच सामान्य पाठक तक हो जाती है। वे देश-काल की सीमा में जन्म लेकर भी सार्वदेशिक और सर्वकालीन हैं। 'चौराहा' की कहानियों की पात्र-पात्रियों, कथानकों और शैलियों की विविधिता और मौलिकता की बात मैं पहले ही कह चुकी हूँ। जब आज के अधिकांश देशी-विदेशी लेखक विविध राजनैतिक एवं सामाजिक वादों के पक्ष-विपक्ष में ही होकर लिखते हैं, उनका क्षेत्र संकुचित हो जाता है, और समस्त जीवन ही उनकी कला का विषय नहीं रहता। तो मैं समझती हूँ कि ये बातें ही प्रस्तुत कहानीकार की कृतित्व शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण हैं।

—श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

छोटा मुँह बड़ी बात

चौराहा में मेरी नवम्बर १९३८ तक की लिखी ११ कहानियाँ संकलित हैं। तब मेरी उम्र १९ साल थी। मेरे कई दोस्तों ने कहा—'म्याँ, इतनी उम्र में तुम क्या ख़ाक लिखोगे।' मानता हूँ मैंने ख़ाक नहीं लिखा; पर जब लिख ही लिया, तब उसे अपने सिद्धांतानुसार छपाना ज़रूरी है, ताकि मैं अपने को दूसरों की आँखों से देखूँ और समझूँ कि बाह्य संसार की अपेक्षा मेरा अस्तित्व क्या है, उसका मूल्य क्या है।

१९ फ़रवरी १९४० में १९५/१ हरिसन रोड कलकत्ता के तिमंज़िले के एक सड़े-से कमरे में मैंने लिखा था—

इलाहाबाद। १९३९ की बात है। पूनो थी या चौदस, सो ठीक याद नहीं। साढ़े ग्यारह बज चुके थे। उज्ज्वल पारे की तरह श्वेत चम-चमाती चाँदनी लहरा रही थी। लौटते मानसून के सफ़ेद चिट्टे बादल, हाल की धुनी रुई के जैसे गाले हों, पछियाव के तेज़ झकोरों के साथ स्वच्छंद उड़े चले जा रहे थे। ऐसी मादक और चंचल चाँदनी साहित्य में मैंने पढ़ी और सुनी तो बहुत थी, परन्तु अपने रोम-रोम से देखकर जीवन में पहली बार ही अनुभव की थी। कुछ अटपटा सा मालूम हुआ था और अभाव जग गया था। मैं कवि बच्चन को साथ लेकर बेली रोड पर घूमने चल दिया—वहाँ, जहाँ वह गंगा से कुछ दूर ही समांतर जाती स्टेनले रोड से समकोण बनाती है। गंगा की चन्द्रिकास्नात रुपहली सतह को स्पर्श कर पछियाव में मदहोशी आ गई थी!

ग़प होते होते बच्चन से उपन्यास और कहानी की चर्चा चल पड़ी—उपन्यासकार के क्या गुण होने चाहिए और कहानीकार के क्या ?

बच्चन ने कहा—"मैंने कहानी से ही लिखना शुरू किया था, पर बाद में उसे छोड़ कविता करने लगा, क्योंकि जवानी कविता करने का मौसम होती है। जवानी में आदमी सारी दुनिया को अपनी आंखों से देखता है और सोई कवि। कहानी और उपन्यास के लेखक दुनिया को दूसरों की आँखों से देखते हैं, इसलिए पकी जवानी या प्रौढ़ावस्था उनके लिखने के लिए उचित समय होते हैं। कवि के लिए अपेक्षित है भावनावेश और कल्पना। ये यौवन में ही अपने चढ़ाव पर होती हैं और तभी सबसे ऊँची चढ़ती हैं। कहानी और उपन्यास के स्रष्टा के लिए निरीक्षण, कल्पना, आलोचना तथा प्रजनन की अशिथिल शक्तियाँ अनिवार्य हैं। पहले वह निरीक्षण करता है; फिर अपनी आलोचक प्रवृत्ति से समझता, परखता और सोचता है। तत्पश्चात् वह कल्पना की सहायता से निरीक्षित को प्रजनित करता है और फिर उसमें कला-प्राण फूँक देता है। प्रतिभायुक्त (जीनियस) लेखक के पास एक और चीज़ होती है—धारणाशक्ति (इनटुईशन), जिसकी सहायता से वह कला-प्राण की उत्कृष्टता और उज्ज्वलता बढ़ाता है और विज्ञन प्राप्त करता है। निरीक्षण, आलोचना, कल्पना, प्रजनन, और इनटुईशन की शक्तियाँ चालीस बरस की उम्र में पूरी तरह विकसित हो जाती हैं। साठ बरस की अवस्था तक लेखक के पास इतना अनुभव और परिज्ञान एकत्र हो जाता है और उसकी परख इतनी पैनी हो जाती है कि संसार को सबकी आँखों से देखने और अपनी उन शक्तियों का उपयोग सबकी आँखों से देखे संसार को अभिव्यक्त करने

की क्षमता वह पा जाता है, यानी वह समालोचना करने के योग्य हो जाता है।"

बच्चन की इन बातों से मैं असहमत नहीं। पर समय की जो सीमाएँ उन्होंने बाँधी हैं, वे सर्वथा सत्य नहीं हैं। साधारण औसत आदमी पर यह लागू हो सकती हैं, पर लेखक पर नहीं। केवल आलोचना और कहानी-उपन्यास लिखने के लिए ही कोई चालीस और साठ की उम्र का इंतज़ार करे, तो ये कभी प्राप्त होंगी, सो निश्चित नहीं, जबकि भारतवर्ष में आज औसत आयु २३ वर्ष ही है !* पर लेखक तो औसत आदमी से ज़्यादा समझदार और जानदार होता है, सतर्क, भावुक और सचेत भी और इसीलिए ख़ुद तजुर्बा हासिल न करके भी दूसरों के तजुर्बे से ही ज़िंदगी की बहुत कुछ सचाई और असलियत समझ लेता है, वरना उसके पास इतना समय कहाँ कि वह समूचे जीवन के समस्त अनुभव प्राप्त कर ले, चाहे उसका जीवन सहस्र वर्ष का क्यों न हो ! दूसरी बात यह कि जीनियस या प्रतिभा अवस्था या अनुभव की देन नहीं और यह कहना भी झूठ न होगा कि सभी अच्छे लेखक थोड़ी बहुत प्रतिभा रखते ही हैं। प्रौढ़ता अथवा परिपक्वता अवस्था की नहीं, अनुभव की अपेक्षा करती है। कितने ही अक़्लमंद आदमियों का कहना है कि

---

* अभी गत जून के 'विश्वमित्र' में विष्णु ने एक लेख 'बड़े आदमियों की आयु' में आँकड़े देकर सिद्ध किया है कि औसत से २५ वर्ष से ३५ की अवस्था में सभी महापुरुषों की सर्वोत्तम कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं और उन्हें यश मिला है।

बुज़ुर्गियत उम्र से नहीं क़ाबलियत और तजुर्बे से हासिल होती है। तो यों मैं बच्चन के दृष्टिकोण से अगर देखूँ, तो मुझे अभी कोई हक़ कहानी लिखने और समालोचना करने का नहीं है। इसीलिए *चौराहा* पर आ खड़े होने में मुझे कुछ हिचकिचाना चाहिए, लेकिन मैं हिचकिचाता नहीं। मैं बिना संकोच, यह संग्रह पेश कर रहा हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं लेखक बनने के फ़ैशन और नाम पाने के लिए ही नहीं लिखता, और न ही लिखता हूँ हिंदी साहित्य की सेवा करने के आदर्श से प्रेरित होकर। न तो मेरा छोटा मुँह है, और न मैं इतनी बड़ी बात करना ही पसंद करता हूँ। मैं मज़दूर लेखक हूँ और लिखना मेरा कर्तव्य है, सेवा नहीं। लिखने से मेरी रोटी चलती है। यह कमाई बुरी और पाप की तो नहीं। कमाई वह बुरी, जो बुरे तरीक़ों से की जाए। लिखना तो कोई बुरा काम नहीं, यह मैं जानता हूँ। मेरे लिखे से अगर किसी की सेवा हो जाती है, तो उसे अपने को धन्य समझना चाहिए। साहित्य तो सभी की भलाई के लिए है। मेरा धंधा इसलिए श्रेष्ठतम है। इससे सबकी भलाई होती है, हो सकती है। 'स्वांतः सुखाय' लिखना हददर्जे की कंजूसी है; स्वार्थ-परता है; ऐसा ड्राइंग रूम है जिसमें ग़रीब पैर रखते डरता है; ऐसा मंदिर है जिसमें हरिजन-प्रवेश निषिद्ध है।

जिस विज़न का ज़िक्र ऊपर किया गया है, उसके विषय में कुछ विस्तार से कहना ज़रूरी है। मेरी धारणा है कि कलाकार में विज़न तब जगती है, जब उसमें भावनावेश की समा चरम होती है, या होने-वाली होती है। भावनावेश सुख के अतिरिक्त से उत्पन्न हो, अथवा दुख के। सुख से वह जन्मे, तो अध्यात्म की ओर उन्मुख होता है, और

अगर दुख और निराशा के अंतस्तल में से उफ़न कर आए, तो मानव के विकास और भलाई में तत्पर हो जाता है। तत्फलित विज़न में तत्संबंधी आनेवाले जीवन की झलक रहती है, झाँकी रहती है। इसी में अक्सर ही लेखक जीवन और उसके अस्तित्व के सत्य को भी पा जाता है।

अपने को तुच्छ और हीन समझने के झूठे तकल्लुफ़ में आकर मैं अपने को लिखने से रोकता नहीं, क्योंकि यदि मैंने जीवन पाया है और यदि मैं जीवित हूँ, तो संसार की सत्ता में मेरे अस्तित्व की इकाई एक आवश्यक शक्ति है, अनिवार्य वह चाहे न भी हो, जो बहुत कुछ बना और बिगाड़ भी सकती है। हिंदी में अनेक कहानी-लेखक हैं और बहुत खूब लिखते हैं। एक कहानी लिखकर भी सर्वश्रेष्ठ कहानीकार बना जा सकता है, आठ लिखकर और साढ़े तीन सौ लिखकर भी। मैं इस योग्य नहीं कि अपनी तुलना किसी से करूँ। मेरा अपना व्यक्तित्व है; प्रखर या धूमिल, ऊँचा या नीचा, यह देखनेवाले जानें। जो है, सो मैं जानता हूँ। दूसरे की दृष्टि से अपनी छाया देखकर मैं डर सकता हूँ और अपनी उज्ज्वलता देखकर असत्य अहंकार में मैं अपने को भूल सकता हूँ। इनमें से मुझे एक भी स्वीकार नहीं। इन दोनों के सामञ्जस्य का स्वागत कर सकूँगा, क्योंकि रचना लेखक के व्यक्तित्व की प्रक्षेपित अथवा प्रसारित ज्योतिर्मय छाया होती है।

जब यह कहानियाँ लिखी गई थीं, तब साहित्य और साहित्यकारों से मेरा परिचय नहीं के बराबर था। मैंने तब तक अपने ही जीवन के सिर्फ़ १६ पृष्ठ पढ़े थे। इसलिये इनमें कल्पना कम है, और अनुभूति

अधिक। इनकी असली जननी अनुभूति ही है और कल्पना इनकी स्नेहसिक्त सौतेली माँ। कोरी कल्पना शायद इनको असंगत और अस्वाभाविक बना देती। इन कहानियों की विशुद्ध मौलिकता और विविधता का दावा मैं विनम्रतापूर्वक कर सकता हूँ। एकरसता न तो इनकी शैली में है, और न वस्तु-विन्यास में ही। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक कहानी या रचना के लिये केवल एक ही शैली हो सकती है, जिसमें उसकी सर्वोत्तम और सफलतम अभिव्यक्ति हो सकती है। जिस कहानी का कोई अन्य सूत्र भी मेरी स्वानुभूति के अतिरिक्त है, उसे मैं स्पष्ट बतला देना पसंद करूँगा। 'करुण कहानी' स्टीवन्सन के 'ग्रीन कारवाँ सराय' में वर्णित 'स्टरिंग आॅवर'* (जागरण मुहूर्त) और शेक्सपियर के सौनेट "रिमम्बेंस" की अंतिम दो कड़ियों† से प्रेरित और उन्हीं पर आधारित भी है।

'बटनवाली' मैंने गाल्सवर्दी की 'क्वालिटी' ('कारीगरी' नाम से

---

* स्टरिंग आवर—(जागरण मुहूर्त)—एक प्राकृतिक नियम है, जिसे सर्वसाधारण ज्ञात रूप से नहीं जानते। इसके अनुसार रात के एक और डेढ़ बजे के बीच संसार के सभी सुप्त प्राणी क्षण भर के लिए जग जाते हैं।

† But if the while I think on thee, dear friend,
All losses are restored, and sorrows end—

—Shakespeare.

इसका अनुवाद मेरी पुस्तक 'समुद्र पार के मोती' में प्रकाशित हो गया है।) और किसी मराठी लेखक की कहानी 'बोड़ीवाली' (इस में प्रकाशित) से प्रेरित होकर लिखी है। इसकी सच्ची अनुभूति और मौलिकता का प्रमाण मैं केवल यह दे सकता हूँ कि इस बटनवाली से अलीगढ़ की सब्ज़मंडी और बिसातख़ाने के सभी दुकानदार परिचित हैं।

अपने सभी पात्र-पात्रियों के विषय में मैं यह कह सकता हूँ कि वे भारतीय वस्त्र पहने विलायती मेम-साहब क़तई नहीं हैं।

'शालिनी बी० ए०' में मैंने पहले शिशु का नाम विजय लिखा था। पर मेरे एकमित्र हरदयालसिंह भाटिया एम० ए० ने बी० ए० की डिग्री के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये उसे 'विजया' करा दिया।

यह तो पुरानी बातें ज़रा कहीं न्यूनाधिक परिवर्तन से मैंने दोहरा भर दी हैं। अब आज की नई बातें भी कुछ कह दूँ—

मेरे अगले कहानी-संग्रह 'अंधी गली' की समस्या आज की उलझनपूर्ण नारी है। इस सीरीज़ की *एक के रहते, क्या वह नारी नहीं थी, तीसरा कौर,* बड़ी और बुरी *दुनिया* आदि कहानियां प्रकाशित भी हो चुकी हैं। 'अंधी गली' मेरे पाठकों को कब देखने को मिलेगी, यह कोई दयालु प्रकाशक ही उन्हें बता सकेगा। यों यदि पाठक उत्सुक हों, तो *विचार, नई कहानियों* और *महिला* की फ़ायलें उलट लें।

गत दो वर्षों में मेरी ज़िंदगी का दायरा बढ़ गया है और कुछ ज़्यादा

भर गया है। हिंदी की विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कहानी-लेखिका चन्द्रकिरण मेरी साथिन हो गई हैं। जीवन को मैंने अधिक समीप से देखा है और उसने विकास पाया है। किरण ने 'चौराहा' की समीक्षा लिखी है, हालांकि मेरे कई एक अज़ीज़ साहित्यक दोस्तों ने मना भी किया और कहा कि लोग क्या कहेंगे। लोग कहेंगे ही क्या ? अगर कहेंगे भी, तो वह अनुचित होगा। बक़ौल अज्ञेय हिंदीवालों के बारे में मशहूर है कि वे अपनी बीबी पर ही कहानी-कविता लिखते हैं और बीबियों के नाम से भी। चन्द्रकिरण की योग्यता मेरी किसी भी ऐसी सहायता की अपेक्षा नहीं रखती। मैं साहित्य और उसके लेखक का अटूट संबध मानता हूँ और समझता हूँ कि रचना की उचित और सत्य समालोचना बिना उसके लेखक का समीपतम परिचय पाये नहीं हो सकती; यद्यपि तब दृष्टि-दोष होने की संभावना रहती है, पर सदैव तो नहीं। किरण मेरे प्राणों में घुलीमिली है, मेरे समूचे जीवन की प्रत्येक गति और स्पंदन से परिचित है। मेरी रचनाओं की परिस्थितियों, ग़लतियों और ख़ूबियों को वह बहुत अच्छी तरह जानती है और क्योंकि उसका अपना व्यक्तित्व भी है, इसीलिए मेरी रचनाओं को वस्तुगत (ऑब्जैक्टिव) दृष्टिकोण से देखने में वह समर्थ है। वह उनकी आलोचना निष्पक्षता और ईमानदारी से करती है। यों वह विशुद्ध साहित्य की तो नहीं, पर जीवन की समालोचिका अवश्य है; उसकी कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।

शायद यह भी ज़रूरी है कि मैं कुछ अन्य कहानी-लेखकों के नाम गिनाऊँ, जिन्हें मैं अच्छा समझता हूँ।

पहले मैं विलायती लेखकों की बात कहूँगा : गोल्डस्मिथ, स्टीवन्सन

स्विफ्ट, अनातोले फ्रांस, गाल्सवर्दी, और लगभग सभी प्रसिद्ध रूसी कहानीकार मुझे अच्छे लगे हैं और उनसे मैं प्रभावित हुआ हूँ, परन्तु सब से अधिक प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है। अपने समकालीन लेखकों में मुझे यशपाल, विष्णु, अंचल, सर्वदानंद वर्मा, अमृतराय, सुमित्रा कुमारी सिन्हा आदि की कहानियाँ बहुत अच्छी लगती हैं। बुजुर्गों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी और भगवतीचरण वर्मा ही श्रेष्ठ कहानी लिख रहे हैं, नवयुवक कथाकारों के साथ क़दम मिलाकर चल रहे हैं, जबकि कौशिक, सुदर्शन, ऋषभचरण जैन आदि बुझ चुके हैं। मैं समझता हूँ कि इस समय उर्दू, गुजराती और मराठी में बहुत अच्छी कहानी लिखी जा रही है। कृष्णचन्द्र उर्दू के और धूमकेतु गुजराती के श्रेष्ठतम कहानीकारों में से हैं।

मेरा अपना अनुमान है कि 'देवदास' फ़िल्म का ख़ासतौर से और शरद के उपन्यासों का आमतौर से हिंदी कहानी पर सबसे ज़्यादा असर पड़ा है और यह असर उसके विकास में घातक ही हुआ है। यों उपेन्द्र-नाथ अश्क का तो यह कहना है कि जैनेन्द्र का 'ईविल जीनियस' (कुप्रतिभा) हिंदी कहानी के ह्रास का कारण है। हिंदी कहानी में देवर-भाभी का बोल-बाला है। पहाड़ी और वीरेन्द्रकुमार की तो नज़र इन्हीं पर टिकी रहती है। वीरेन्द्रकुमार तो एक क़दम और पीछे गए हैं—वे अपनी प्रेयसी में माँ और माँ में प्रेयसी देखने के आदी हैं। ये दोनों लेखक कभी भूलकर ही जीवन की अन्य समस्याओं को स्पर्श करते हैं। उपेन्द्रनाथ की बात मैं पूरी तरह नहीं मानता। हिंदी की कहानी श्रेष्ठ न हो, सो बात नहीं; पर यह अवश्य ही सच है कि उसमें हमें अपने समूचे जीवन के सभी पहलू

नहीं दिखाई देते इसके कारण क्या हैं, यह खोज और बहस का सवाल है।

अंत में अपने समालोचक से भी मैं कुछ कह दूँ। हिंदी में काव्य और आलोचना के आलोचक ही अधिक रहे हैं, कहानी, उपन्यास और निबंध के कम। आलोचकों में पहले केवल रामचन्द्र शुक्ल थे पर अब इधर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, नंददुलारे वाजपेयी, और नरोत्तमप्रसाद नागर, जैसे समालोचक भी हिंदी को प्राप्त हो गए हैं। इसीलिए मुझे विश्वास होता है कि मेरे साथ अन्याय नहीं होगा।

मैं साहित्य की पहली ज़रूरत दयानतदारी–सचाई–(सिंसीअरिटी)—समझता हूँ। इसी ज़रूरत को पूरा करते रहने की भरसक कोशिश हमेशा करता हूँ। आशा करता हूँ इसके अभाव का दोष 'चौराहा' पर नहीं लगेगा, और चाहे जो भी हो। यों तो ग़लती इंसान से होती ही है—

'चौराहा' को इस सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने का सबसे अधिक श्रेय मेरे परम हितैषी हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० (श्रीभारतीय) को है। अपने ऊपर उनकी इस कृपा का भार मैं सादर स्वीकार करता हूँ।

मेरे स्नेही मित्र श्री शमशेरबहादुर सिंह ने 'चौराहा' के चित्र बनाए हैं, जिनसे इसका सौंदर्य बढ़ गया है और कहानियों में अधिक सजीवता आ गई है। पर मैं अपने शमशेर जी का स्नेह-आभार यों ही धन्यवाद देकर हलका नहीं कर देना चाहता।

उष्ण उच्छ्वास तीव्र निश्वास बनकर उसके सुचारु नासिकापुटों से निर्बन्ध प्रवाहित हो गया।

समस्त प्रकृति में एक हलचल-सी उत्पन्न हो गई। अर्धसंसार के ऊपर एक आतंक-वायु डोल उठी; मातम-सा छा गया।

तरुवर के पल्लवों ने कोमल डालों को जगा दिया। पल्लव और किसलय की रसलन में डालों ने करुण मर्मर का योग दिया। निर्झर की मृदु झर-झर में श्मशान का सा सुनसान मुखरित हो उठा।

पशु-पक्षियों ने भी इस भयावह सुनसान और कोलाहल को सुनकर अपने स्वप्ननीड़ों को त्याग दिया और इधर-उधर देखने लगे। कबूतरी ने पंख फड़फड़ाकर कबूतर से पूछा, "गुट रूँ गूँ ?"

कबूतर ने उत्तर में केवल अज्ञानता सूचक दृष्टि से अपनी मादा को देखकर असमर्थता प्रकट की।

तोती ने "टें टें" कर तोते से कुशल प्रश्न किया। तोते ने 'टट' कह कर पंख सिकोड़ लिए और भय के मारे तोती से चिपट कर बैठ गया।

श्यामा चिड़िया के दो ही दिन के छोटे-छोटे बच्चे कुलमुलाए। श्यामा झट नींद से जाग गई और उसने पंख फैलाकर उन्हें ढक लिया।

'पी कहाँ ? पी कहाँ ?'—वन देवी से पपीहे ने इस विश्व-व्यापी शोक का कारण पूछा। यही प्रश्न "कू कू" कर कोयल ने आम्र वृक्ष से पूछा। चकोरी ने चंद्रानन पर दृष्टि गड़ाकर उत्तर पाने की विफल चेष्टा की।

बछड़ा रँभाने लगा, तो गाय ने उसका मुख चाट कर जैसे उसे थपथपाया और सुरक्षा तथा कुशलता का विश्वास दिलाया।

भेड़-बकरियों के झुंड मिमियाने लगे। गीदड़ों की हू हू अब भी सतत थी।

इतने पर भी उसके—उस नवेली वधू के विरह की कहानी कौन जान सका!

* * *

कहते हैं घोरतम निराशा में भी आशा की एक ज्योति-रेखा टिम-टिमाती रहती है। कदाचित् इसी से वह समस्त रात्रि श्रृङ्गार किए प्रतीक्षारत बैठी रही—

प्रतीक्षा-पथ पर निरन्तर निर्निमेष दृष्टि से देखते-देखते उसके नेत्र पथरा गए। यौवन की उठती हुई उमंगों और प्रणय-प्रेरणा से उद्भूत विचित्र गुदगुदी को जैसे किसी ने निर्दयता से, निर्मम बनकर कुचल दिया।

उसने दीर्घ निश्वास छोड़ी। आभूषणों से विभूषित और यौवन-सौन्दर्य भार से नत अपने वक्षस्थल पर पुनः निराश अलसाए नयनों से एक आकांक्षापूर्ण दृष्टि डाली; परन्तु सब कुछ कान्तिहीन था। हृदयस्थित चंद्र भी अपनी प्रेयसी—ज्योत्सना—से विदा ले चुका था।

* * *

वह रोमांचित हो उठी !

दूसरे ही क्षण उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वह लज्जा के मारे गड़ी-सी जा रही हो। अल्प लालिमा उसके कपोलों पर दौड़ गई……

प्रभात की किरणें प्राची से फूटा ही चाहती थीं। बाह्य संसार से अपना अस्तित्व तिरोहित करने के लिए वह एकदम उठी और चली गई—

—चली गई क्षितिज के परे किसी सुदूर, अज्ञात, अदृश्य प्रदेश में—

किन्तु वह वायुमंडल में एक हल्की-सी वियोग-विषाद की लहर छोड़ गई, जिसने प्रात की मन्द समीरण बनकर उसकी वियोग-गाथा कह डाली।

नसीम की बात सुनकर कुमुदिनी क्षण भर स्तम्भित रह गई और फिर अचेत हो गई। अरविन्द का भी स्वप्न भंग हुआ और वह इस सर्वव्यापी करुणा का खेल देखने के लिए नेत्र खोलकर सचेत हो गया।

तारक दल ने भी व्योम से बिदा होते समय दो-दो अश्रु टपकाकर अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट की। परन्तु क्या उन अश्रुओं में सन्निहित करुणा-भार को वसुधा-वक्षस्थल सहन कर सकता था ? हाँ, क्यों नहीं ! अवश्य कर सकता था। छोटे प्राणी स्वयं कष्ट सहकर बड़ों के लिए सुख-समृद्धि के साधन प्रस्तुत करते हैं।

कुछ भार पत्र-पुष्पों ने वहन किया। शेष कोमल दूर्वादल ने सहन कर मेदिनी को करुणा-ताप से बचा लिया।

सहायता और सहानुभूति के इस उज्ज्वल कृत्य को विश्व के प्राणियों ने उदयोन्मुख दिनकर के धुँधले प्रकाश में ओस की छोटी-छोटी बूंदों के रूप में देखा।

पृथ्वी ने अपने वायुदूत द्वारा संदेश भेजा उसके प्रियतम के पास, जो एक सुदूर प्रदेश में भ्रमण करने चला गया था।

अनिल ने वहाँ जाकर जो कुछ देखा उससे स्तब्ध होकर रह गया, उसका प्रियतम तो ज्योति के प्रेम-पाश में आबद्ध था। पवन ने धीरे से उसके कान में संदेश कह डाला और 'सनसन' कर वहाँ से चल दिया।

इस 'भूल' से प्रियतम का मुख लज्जा से लाल हो गया। शीघ्र ही उसने स्वदेश को प्रस्थान किया।

❀ ❀ ❀

दुखी और निराश होकर उसने अपना तारकजड़ित निलाम्बर उतारकर रख दिया और एक साधारण अल्पश्वेताम्बर धारण किया। तत्पश्चात् अन्यमनस्क हो प्रकृति के कार्य संचालित करने लगी।

सहसा अरुण शिखा की बोली ने कोई शुभ संदेश दिया!

क्षण भर के लिए वह चौंकी; पर तुरन्त ही सब समझ भी गई। उसके उन्मन नयन और पीताभ कपोल पुनः रक्तरंजित हो गए। यह लालिमा प्रभात के प्रथम प्रकाश में दूरवर्ती क्षितिज पर तुरन्त ही प्रकट हो गई।

कान्तिचन्द्र —

प्रियतम आए। चुपके से उसके शुष्क अधरों पर सरस चुम्बन अंकित कर दिया—

इस चिर आकांक्षित प्रणय-स्पर्श ने उसे सहसा ही एक मृदु कंप से हिला दिया। हृत्स्पंदन तीव्र हो गया। उसका अंग प्रत्यंग डोल उठा। वायुमंडल में प्रातः समीर की दूसरी लहर प्रवाहित हो गई...

"अच्छा तो तुम आ गए !" वह विनोद-व्यंग पूर्ण स्नेहसिक्त दृष्टि में जैसे बोल उठी ! वह सहम गया। मुख-कांति ने नष्ट होकर अरुणिमा में पीतमा मिला दी।

यह देखकर वह मुस्करा पड़ी। उस मुस्कान में अपनेपन का अभिमान था, एक मीठी चुटकी थी, एक विचित्र मादकता थी, और एक अद्भुत रहस्य-सा न जाने क्या था !

उनका सम्पूर्ण मिलन हुआ। निशा दिवा में लीन हो गई। एक अनिर्वचनीय तृप्ति के सुखानंद से सूर्य का मुख दीप्त हो गया। प्रखर तेज की किरणों ने अंधकार पूर्ण स्थलों में प्रवेश कर उन्हें जीवनालोक प्रदान किया। प्रकाश सृष्टि का प्राण बन गया।

रजत रश्मियों के मधुर स्पर्श से विमुख सूर्यमुखी ने खिलखिलाते हुए सूर्य को तनिक मुड़कर कनखियों से देखा और फिर स्वयं भी खिलखिला कर हंस पड़ी ! परन्तु न जाने क्यों प्राणी अपने साथी के सुख में सुखी और दुख में दुखी नहीं होते ? दूसरों के सुख पर उन्हें ईर्ष्या होती है; और उनके दुख के प्रति अन्यमनस्कता, उपेक्षा।

विश्व के इस नवालोक में कुमुदिनी संकुचित हृदया और मलिन ही बनी रही !

❀ ❀ ❀

निशा की गत वेदनापूर्ण करुण कहानी के स्मृति-रूप वे अश्रुकण पत्र-पुष्पों ने सहेज रखे थे।

रुपहरी रश्मियों के आनंद-स्पर्श से शबनम के कण जगमग-जगमग चमचमा रहे थे।

दुखद अतीत की स्मृति भी मधुर ही होती है !

२

ईद का चाँद

अलीगढ़]   [वसंत, १६३५

ईद का चाँद

शहर की वह एक कम चलनेवाली छोटी सड़क थी जिस पर अफ़ज़ल की छोटी सी ही दुकान थी। दुकान की कोठरी तीन गज़ चौड़ी और चार गज़ लम्बी रही होगी, जिसमें एक छोटी भट्ठी और खाल की धौंकनी तथा निहाई स्थाई थीं; बहुत से लोहे के औज़ार—छेनी, हथौड़ा, रेती, आदि इधर-उधर बिखरे पड़े थे; कुछ अधबनी चीज़ें और बेकार पत्तियाँ भी बेतरतीब लावारिस और नाजायज़ बच्चों की तरह बिना देखभाल के न-जाने कब से यूँही पड़ी थीं। दीवारें धुएँ के कारण काली तो थीं ही, उस पर अब धूल से भी भर गई थीं। साफ़ मालूम होता था कि हफ़्तों से भाड़ू नहीं लगी है। दूकान की पिछली दीवार में एक दरवाज़ा था, जिस पर काला चीकट और फटा एक टाट का पर्दा पड़ा था। इस पर्दे में से अफ़ज़ल के पूर्वजों की जायदाद—क़रीब पौने सात

वर्ग गज़ की एक अँगनाई, जिसके एक कोने में टाट के पर्दे से अधढका मुश्किल से पौन गज़ लम्बा-चौड़ा पाख़ाना, दो खुले और नीचे दरवाज़ों का दालान और उसके पीछे एक अंधाकुप कोठरी; छत पर जाने के लिए आंगन में ही एक दस बारह सीढ़ियों का जर्जर ज़ीना—झांक-झांक कर देख रही थी। हां; और झांक कर देख रहा था उस ग़रीब घर का अमीर अतीत ! उस ग़रीब घर का क्या सचमुच ही कोई अमीर अतीत था ?—था जब वह अंधेरी कोठरी, मंद प्रकाशित दालान, और तंग आंगन परिवार से इतना भरा-पूरा था कि तिल रखने की जगह नहीं रहती थी; गर्मियों में काल कोठरी बन जाता था; परन्तु तब अफ़ज़ल के दादा-दादी, मा-बाप, भाई-बहन, और सबके बच्चे-कच्चे मौजूद थे; घर जीवित लगता था। सुनसान और निर्जीव वीरान में मनुष्य की उपस्थिति मात्र ही उसमें प्राण फूँक देती है। तो उनको उस काल कोठरी में भी सुख मालूम होता था। दोनों समय सबको पेट भरकर भोजन मिल जाता था, और ईद-बकरीद नए कपड़े और मेला-तमाशा भी। यही इस घर का अमीर अतीत था। ग़रीब को भर पेट भोजन और मोटा-झोटा पहननना मिल जाना ही जैसे उसका अमीर हो जाना है।

अभी पाँच ही बजा होगा, लेकिन उस तंग दालान में शाम जल्दी आ गई है, जैसे तंगदस्ती के दिनों में ज़रूरी-ज़रूरी ख़र्चे भी नई-नई मुसीबतों के रूप में आते-जाते हैं। अफ़ज़ल की वृद्धा पत्नी अमीना अँधेरा हो जाने पर भी चर्ख़ा लिए बैठी है। वास्तव में वह अपने अमीर अतीत की याद में ऐसी बेसुध और खोई-सी है कि कब शाम उसके दालान में घुस आई, इसकी उसे क़तई कोई ख़बर नहीं हुई। हालां कि तब

उसका अपना कोई बच्चा नहीं था, तब भी वह अपने देवर-जेठ के बच्चों को ही देखकर ख़ुश रहती थी। उनके खेल-कूद के कोलाहल में बाहर दुकान में निहाई पर हथौड़े की चोटों का तीव्र स्वर भी डूब जाता था, और साथ ही डूब जाता था उसका अपना अभाव भी। धीरे-धीरे भाइयों में फूट पड़ी। सबने अपने-अपने बीबी बच्चे लेकर अलग-अलग घर बसा लिए। फूट की जड़ थी मौरूसी जायदाद—यही घर। अफ़ज़ल तब जवान था—मेहनत और अड़ का आदमी। उसने सबके हिस्सों की क़ीमत चुका दी, लेकिन ख़ुद घर छोड़कर जाना स्वीकार नहीं किया! मकान की क़ीमत तो उसने चुका दी थी, लेकिन बच्चों का मधुर कोलाहल, घर का सजीव वातावरण उससे छिन गया था, जिसे वह फिर जवाहरात देकर भी नहीं मोल ले सका। ईश्वर से ख़ुशामद करके जब उसने मोल भी लिया, तो उसी ईश्वर ने अनायास ही डाका डालकर उसे छीन भी लिया।

अभाव फिर साकार हो उठा था। हथौड़े की चोटें यद्यपि शिथिल हो गई थीं, तब भी उसके स्वर में अफ़ज़ल-अमीना की आकांक्षा भयावह चीत्कार कर उठती थीं।

पाँच बरस हुए ईद आई थी। अभाव की चीत्कार सुनते-सुनते चालीस बरस का हट्टा-कट्टा अफ़ज़ल यकायक बूढ़ा हो चला था और अमीना पैंतिस की ही होने पर भी पति के बुढ़ापे का साथ देने लगी थी। मा बनना तो उसका प्रकृतिजन्य स्वाभाविक अधिकार था न।

घुटने टेककर हाथ फैलाकर, प्रपीड़ित और कराहती आत्मा से अफ़-ज़ल और अमीना ने साथ-साथ ईद का चाँद देखकर ख़ुदावंद ताला से

एक बच्चे की भीख मांगी थी। मुराद पूरी हुई। दूसरी ईद को ईद का चाँद अमीना की गोदी में आगया था। अमीना का जैसे बचपन, जवानी और अमीरी सब एक साथ लौट आए। जो चीज़ अफ़ज़ल पैसा देकर नहीं ख़रीद सकता था, वह उसने केवल प्रार्थना भर से पा ली। ख़ुदा का हज़ारहा शुक्र। अफ़ज़ल की ख़ुशी का कोई ठिकाना न रहा था! हाथ तंग होने पर भी उसने अपने पास-पड़ोसी, मिलनेवालों और नातेदारों को दावत दे दी थी। हथौड़ा तेज़ी के साथ चलने लगा था, लेकिन उसका तीव्रतम स्वर भी अब ईदू के रोने और किलकारियाँ भरने में खो जाता था। अफ़ज़ल की आमदनी भी बढ़ गई। ईदू के लिए बिस्कुट, खिलौने और नए नए कपड़े महीने में कम से कम चार-पाँच बार तो आ ही जाते थे।

अफ़ज़ल ने आकर अमीना की तल्लीनता भंग की, "सुनो जी, करीम कह रहा था कि चाँद दीख गया और अज़ान भी हो गई—तुम अभी तक उठी नहीं—क्या सुनाई नहीं दी?" अफ़ज़ल का स्वर क्लांत और उदास था। अमीना जैसे जगी। अफ़ज़ल की ओर कुछ शून्य-सी, कुछ खोई-हुई-सी आँखों से देखा।

अफ़ज़ल बोला, "तो अब उठो न, रोज़ा खोल लो। बाक़ी रुई कल कात लेना।"

"आज शाम को ही सब सूत देने का वायदा कर आई थी—क्योंकि कल ईद होगी—पैसा मिल जाता"—कह कर अमीना उठ बैठी, "तो अभी सेर भर बाक़ी है—रात को ख़त्म कर दूँगी।"

"पैसे की क्या ज़रूरत है ? अब हम लोगों की ईद-बकरीद क्या—और जब ईदू के कपड़े और खिलौनों के ही लिए पैसे वक्त पर नहीं मिले थे, तो अब......"अफ़ज़ल के स्वर में बेबसी का करुणावेग फूट पड़ा। वह चुप हो गया। कुछ रुक कर फिर बोला, "तो चलो छत पर। चाँद देख कर नमाज़ पढ़ लें।"

भरी-सी अमीना बोली, "ऐसे मनहूस चाँद को मैं नहीं देखूँगी—और इबादत से फ़ायदा ! जो ख़ुदा हमारी ग़रीबी दूर नहीं कर सकता, हमारे सुख को ज़बरदस्ती हमसे छीन लेता है, उसकी इबादत—अपने ऊपर ज़ुल्म करनेवाले की ख़ुशामद किस लिए ? हमें कुछ नहीं चाहिए, तब इबादत की ज़रूरत ही क्या है ? अगर वह रूखी-सूखी रोटियाँ भी देना बंद कर दे, तो बहुत अच्छा हो; जल्दी ही इस दुनिया से नजात मिलेगी।"

"कैसी बहकी बहकी बातें करती हो !" अफ़ज़ल ने साश्चर्य पूछा।

"और अब मैं रोज़ा भी नहीं रखा करूँगी। आज का रोज़ा आख़िरी था !"

"तो जाने भी...दो...लेकिन कुछ खाकर तैयार हो जाओ; ईदू की क़ब्र पर चल कर दिया जला आएँ और फूल चढ़ा आएँ।"

अमीना का गला भर आया—वह फूटकर रो पड़ी; बोली "चलो।"

अफ़ज़ल और अमीना चुपचाप चले जा रहे थे क़ब्रिस्तान की तरफ़। वहाँ एक पुराने इमली के पेड़ के नीचे ईदू की मिट्टी की क़ब्र थी।

सूरज डूबने लगा था।

कान्तिचन्द्र—

गलियों और सड़कों पर कोलाहल था। "चाँद दिख गया—चाँद दिख गया।" छोटे छोटे बच्चे तालियाँ पीट-पीटकर ऊल रहे थे, "कल ईद है—चाँद दिख गया।" चाट और नमकीन की दुकान पर बूढ़े बच्चे टूटे पड़ रहे थे।

अफ़ज़ल और अमीना के दिमाग़ में आँधी चल रही थी। उनका दिल टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा था।

रास्ते में करीम भी अपने चार साल के लड़के हलीम के साथ खड़ा पकौड़ी और नमकीन सेब ख़रीद रहा था—अफ़ज़ल की तरफ़ नज़र उठ गई। अमीना को भी साथ में देखकर वह बोला, "कहाँ चल दिए भाई जान, भाभी साहिबा को लेकर।"

अमीना ने बुर्क़े की आँखोंवाली जाली में से देखा हलीम को। मनमें सोचा, 'आज मेरा ईदू भी इतना ही बड़ा होता!' और उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

अफ़ज़ल ने करीम के प्रश्न का उत्तर दिया, "कहीं तो नहीं, यों ही एक रिश्तेदार के यहाँ जा रहा था।" और यह कहकर वह बढ़ गया। पीछे से उसने सुनी हलीम की आवाज़! वह करीम से कह रहा था—"अब्बा, अमने चाँद नहीं देखा—अम बी देखेंगे ईद का चाँद।"

अफ़ज़ल की आँखों से दो आंसू ढुलक कर उसकी सफ़ेद दाढ़ी पर आ गिरे। उसके कानों में प्रतिध्वनि हुई—"अब्बा अम बी देखेंगे ईद का चाँद!"

और प्रतिध्वनित हो उठी साल भर पहले की वह घटना.........

फिरकी वाला अफ़ज़ल की दुकान के सामने ही खड़ा था। बच्चों की भीड़ लग गई थी। ईदू भी एक फिरकी लेने के लिए मचलने लगा—अमीना ने कह दिया, "कल ईद है मेरे लाल, तुझे बड़े अच्छे-अच्छे खिलौने दिलवा दूँगी, हाँ, मेले ले चलूंगी। अच्छे-अच्छे रंगीन कपड़े पहनाकर—जा अभी छत पर खेल आ—हाँ बेटा, और तूने चाँद देखा ?"

छत पर खड़ा अफ़ज़ल मुहल्ले के छोटे-छोटे बच्चों को चाँद दिखा रहा था। अमीना और ईदू आँगन में खड़े बातें कर रहे थे। अमीना और ईदू की बातें अफ़ज़ल ने सुन लीं। जानता था घर में इस वक़्त एक कौड़ी भी नहीं है; ईदू को किसी तरह फुसलाना भी ज़रूरी है। इसलिए वह बोला, "बेटा ईदू आओ, तुमने चाँद नहीं देखा—आओ हम दिखा दें—देखो जी, ज़रा इसे ऊपर तो पहुँचा दो।"

अमीना ने ईदू को गोद में लेकर ऊपर पहुँचा दिया। अफ़ज़ल ने उसे गोद में लेकर चाँद दिखाया, "देखो वह है—दिखाई दिया।"

ईदू ने ताली पीटकर ख़ुशी के साथ स्वीकार किया। फिर झट से गोदी में से उतरकर मुँडेर पर दौड़ लगाने लगा। अफ़ज़ल ने वहाँ से उठकर उसे छत पर खड़ा कर दिया और अन्य रहे-सहे दो बच्चों को चाँद दिखाने लगा।

ईदू को अनीस ने अपनी फिरकी दिखाई, "देख कैसी अच्छी है—मेरी है, हाँ, तेरे पास नहीं है," कहकर मुँह बना दिया और फिरकी छाती से चिपटा ली। ईदू को फिरकी की याद फिर भड़क उठी। वह जल्दी से ज़ीने के पास पहुँचा। पहली सीढ़ी से ही पैर फिसल गया।

अफ़ज़ल ने धमाका सुनकर छत की तरफ़ मुड़कर देखा: ईदू नहीं था।

बिजली की तेज़ी से वह नीचे पहुँचा। अमीना अंदर कोठरी में से भाग कर आ गई थी। और दहाड़ मारकर रोने लगी। अफ़ज़ल ने ईदू को उठाकर छाती से चिपका लिया और डाक्टर के पास भागा।

डाक्टर ने परीक्षा की और कहा, "अब क्या रहा!"

अफ़ज़ल ने सुना था और ख़ूब अच्छी तरह सुना था। उसके न मुँह से चीख़ निकली थी और न आँखों से आँसू। ठीक एक साल बाद, आज उसकी आँखोंसे दो आँसू निकलकर उसकी दाढ़ी पर निर्जीव से लुढ़क गए।

क़ब्रिस्तान नज़दीक आ पहुँचा था। अँधेरा भी गहरा हो चला था। उस अँधेरे में वह एक गहरा स्याही का धब्बा-सा दीख पड़ता था। वहाँ चिमगादड़ और गीदड़ बोलने लगे थे। कौवों की 'काँव काँव' भी सुनाई पड़ जाती थी।

अमीना और अफ़ज़ल मौन, विवश, अशांत क़ब्र से निकले प्रेतों की तरह उस अंधकार में ओझल होने लगे।

वह अंधकार उनकी अपनी क़ब्रों का अन्धकार था।

३

पंद्रह तारीख़

अलीगढ़] [शरद, १९३५

पंद्रह तारीख़

उसकी एक जन्मभूमि थी, गंगा के तीर पर; बाह्य संसार की दृष्टि में एक तीर्थ स्थान; गंगा के पवित्र वक्षस्थल पर एक काला दाग़; देश के शरीर में कारबंकल फोड़े के समान घातक; धर्म की टट्टी की ओट में जहाँ खेले जाते थे बड़े-बड़े शिकार; प्राचीन रोम के पादरियों के समान पूँजीपति, पाखंडी पंडितों और पुजारियों का एकमात्र साम्राज्य; उसका नाम था काशी, बनारस।

उसकी एक जाति थी : ब्राह्मण और वैश्यों के लिए अछूतों के समान; विद्या में बृहस्पति के समान; उसको कहते हैं कायस्थ जाति।

वह एक जवान था : पैंतीस वर्ष का; बेंत के समान पतला; ताड़ के समान लम्बा; क्षयरोगी के से गड्ढों में घुसे परन्तु तेज़ नेत्रवाला; कोल्हू के बैल की तरह काम में जुता रहने वाला, परन्तु बिजली की तरह तेज़ और फुर्तीला; नाम था दयाचन्द्र।

उसका एक पेशा था : लोग कहते हैं वह बीसवीं सदी के हिन्दुस्तानी बाबू लोगों का निवाला था; उनकी मान-मर्यादा, माई-बाप, और उनके शरीर का प्राण था। वह पेशा ग्रैजुएट्स को अमृत था, जैसे मधुमक्खी को शहद, चीटों को शक्कर ! उस पेशे का नाम था क्लर्की—बीस-पचीस रुपये की क्लर्की !

उसकी एक पत्नी थी : मुरझाए फूल के समान मलिन; प्रभात-चंद्र के समान कांतिहीन; शील के समान सुशील; प्रयत्नशील, और कर्तव्य-निष्ठ—उसका नाम था नलिनी।

नलिनी के हरिणी के से बड़े-बड़े नेत्र, उसका गौर वर्ण, और सुभग शरीर याद दिलाते थे उसके अतीत की जब वह युवती थी, सुंदर थी, अत्यंत सुंदर थी ! किन्तु, अब उसके कोकिल से कंठ में करुणा थी; चंद्रानन पर विषाद की रेखाएँ थीं; नेत्रों में विवशता थी !

उन दोनों का एक पुत्र था : रात्रि के अन्धकार में तारों के समान प्रकाशवान; मरुस्थल में उत्पन्न पुष्प के समान प्रसुप्त भाग्यवाला; छुई-मुई के समान कोमल हृदयवाला; वह एक चौदह वर्ष का विकासोन्मुख पुष्प था। उसका नाम था सरल; उसे घर पर कहते थे लालू !

उनकी एक पुत्री थी : छोटी-सी, गुड़िया के समान; गोरी और सुंदर, श्वेत सरसिज के समान; चंचल, चंद्र के समान; लेकिन भोली भी, गऊ के समान। उसका नाम था सरोज।

दयाचन्द्र अपने परिवार का पेट पालते थे, अपने बाप-दादे की शराबख़ोरी के कर्ज़े को चुकाते थे, और पढ़ाते थे सरल को अँग्रेज़ी, एक

अँग्रेज़ी स्कूल में—उसी पच्चीस रुपए में, जिसे वह सुबह से शाम तक चक्की में पिसकर पैदा करते थे, कमाते थे, सुनकर सेठ के भले-बुरे शब्द डाँट और फटकार !

× × × ×

"बेटा सरल पंद्रह तारीख़ तो आ पहुँची, फ़ीस तो पूरी ही देनी होगी न !" नलिनी ने सहज भोलेपन से किन्तु चिंतित स्वर में कहा।

"क्यों नहीं ? ज़रूर ही पूरी देनी होगी माँ !" सरल का निश्चयात्मक उत्तर था।

"लेकिन फ़ीस माफ़ कराने के लिए कब दरख़्वास्त दी जायगी लालू ?"

"मालूम नहीं माँ। कल स्कूल में मास'साब से पूछ कर बताऊँगा," कहकर सुबोध बाहर जाने लगा। नलिनी ने रोका, "बेटा सुन तो सही। अपने मास्टर साहब से यह और पूछ लेना कि फ़ीस इस महीने में कितनी ली जायगी ?"

"अच्छा अच्छा" कहता हुआ सरल ज़ीने से उतर गया और छोड़ गया चिंताग्रस्त नलिनी को। पर इस बात को वह क्या जाने ! अभी लड़का ही तो था। फिर माँ-बाप का इकलौता बेटा, उनके हृदय का टुकड़ा, भावी सुख-स्वप्न का आशाधार !

नलिनी के हृदय में रह-रह कर यही प्रश्न उठता था एक उलझन बनकर—भयावह समस्या बनकर—'फ़ीस कहाँ से आयगी ? घर में

घी नहीं, तेल नहीं। कल के लिए तो आटा तक नहीं है। तनख़्वाह अभी मिल कर चुकी है—फ़ीस का क्या इंतज़ाम होगा ?'

इसी चिंता में विलीन वह घंटे भर तक बैठी रही। सोचती थी—'सरल कैसा होनहार प्यारा बेटा है। शर्तिया कलक्टर होगा। हे भगवान्, तब वह दिन कैसे सुख का होगा ! हे विश्वनाथ जी ! तुम्हारा प्रसाद चढ़ाऊँगी...'वह सुख से विभोर हो उठती—लेकिन फिर दूसरे ही क्षण में यथार्थता स्वप्न को झटका देकर धक्का दे देती'—लेकिन अभी पढ़ाने के लिए ही हज़ारों रुपए चाहिए। स्कूल में तो चार-पाँच रुपये महीने का ही ख़र्च है, कालिज और यूनीवर्सिटी में तो सुनती हूँ चालीस-पचास से कम में काम ही नहीं चलता। क्लर्की की जगह है—यह भी नहीं कि तब तक सरल के बाबू की तरक़्क़ी हो जाय। लेकिन अभी तो अम्मा का ज़ेवर ही दो-तीन हज़ार का मेरे पास रखा है—उसमें तो सरल की पढ़ाई ख़ूब अच्छी तरह हो जायगी—लेकिन तब तक तो सरो भी शादी के क़ाबिल हो जायगी, उसके भी तो हाथ पीले करने पड़ेंगे—दहेज़ कहाँ से आएगा—तो क्या सरल की पढ़ाई नहीं हो सकेगी !'

इसी उधेड़-बुन में लगे-लगे वह उदास और क्षुब्ध हो उठी। सोचा—'ख़ाली बैठे-बैठे कितनी देर हो गई। धूप छत पर पहुँच गई। लालू के बाबू जी आते होंगे थके और भूखे। चलकर जल्दी ही खाना बनाना चाहिए।' सरोज को आवाज़ दी, "बेटी सरो ! जल्दी से जाकर चौके में सामान तो जुटा। पाँच बज चुके हैं। तेरे बाबू जी दफ़्तर से आते ही होंगे। सवेरे भी जल्दी में अच्छी तरह नहीं खा पाए थे।"

५-७

माँ-बेटी दोनों ने जल्दी-जल्दी खाना बनाना शुरू कर दिया।

आलू उतारकर चूल्हे पर तवा रखा ही था कि बाहर साइकिल की घंटी की आवाज़ हुई। सरोज "बाबू जी आ गए" कहती हुई चौके से निकल कर भागी। नलिनी ने कहा, "चलो ठीक वक्त पर खाना तैयार हो गया।"

दयाचंद्र ने कमरे में जाकर कपड़े उतारे और फिर हाथ-पैर धोकर रसोई में आ बैठे। सरोज ने जल्दी से आसन डाल दिया। नलिनी ने थाली परोस कर रखी। सरोज पानी लेने चली गई। दयाचन्द्र ने रोटी का पहला कौर तोड़ कर मुँह में रखा ही था कि नलिनी बोली—

"देखो जी, पंद्रह तारीख़ को लालू की फ़ीस जायगी।"

मुँह का कौरा आधा ही चबाया छोड़कर दयाचंद्र बोले, "ऐं! पंद्रह तारीख़ अभी से आ गई। अभी तो स्कूल खुले आठ दिन भी नहीं हुए। न पढ़ाई हुई न लिखाई, फ़ीस पहले से ही चाहिए। इन स्कूलवालों ने तो जान खा ली है; ख़ून चूस लिया है," दयाचंद्र ने किंचित क्रोध में एक साँस में कह डाला। फिर कुछ सोचकर बोले,—

"अच्छा तो फिर कितनी फ़ीस जायगी?"

"यह तो लालू कल मास्टर से पूछकर बतायगा"—नलिनी ने धीरे से कहा।

"तो कल की कल देखी जायगी"—कहकर दयाचंद्र ने पहला कौर निगला और दूसरा तोड़ा।

× × × ×

कान्तिचन्द्र—

वह एक स्कूल था, पब्लिक का; धन और पूंजी पैदा करने का एक अच्छा-ख़ासा व्यापार, कमेटी के मेम्बरों की जेबें भरने के लिए कल्प-वृक्ष के समान; महकमे बेकारी के लिए नौकरी पैदा करने को दिया-सलाई की फ़ैक्ट्री के समान; उसका नाम था...हाईस्कूल।

उसका एक नियम था : सरकारी आज्ञा से भी कड़ा; पर्वतों के समान अचल; काँटों के समान चुभनेवाला; जौंक की तरह ख़ून चूसने वाला; कुत्ते की तरह हड्डी तक चबा डालनेवाला; फ़ीस के लिए बर्तन बिकवाने वाला और आभूषण गिरवी रखवानेवाला—उस नियम का नाम था—प्रत्येक मास की पंद्रह तारीख़ को फ़ीस की वसूलयाबी!

यह एक टैक्स था, अमीर ग़रीब पर एक समान। यदि वह टैक्स नियमित तारीख़ पर न पहुँचे, तो प्रतिदिन एक आना जुर्माना (या सूद ?)। यदि पंद्रह दिन तक न पहुँचे, तो लड़के का नाम रजिस्टर में से ऐसे ग़ायब हो जाय, जैसे ब्लैकबोर्ड पर से चाक का लिखा हुआ।

वह एक दृश्य होता था जब तीन महीने की इकट्ठी फ़ीस के साथ परीक्षा की फ़ीस भी एक साथ वसूल की जाती थी, सख़्ती के साथ। जो निर्दयता सरकार भी लगान वसूल करने में नहीं करती, वह फ़ीस वसूल करने में की जाती थी। कोई इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी, अठन्नी, अथवा रुपया यदि तनिक भी मास्टर या मौनीटर साहब की दृष्टि में ख़राब होता, तो वे उसे उठाकर फेंक देते, और कहते, "तू मुझे धोखा देने आया है। मौनीटर लाओ तो आफ़िस से फ़ायनबुक"—और कर

देते थे चार आने, आठ आने जुर्माना। बहुत से मास्टरों की तो यह आज्ञा थी कि रुपए नहीं, नोट ही नोट लाया करो—"मुझे इतनी फ़ुर्सत नहीं कि गिनूं बैठकर तुम्हारा एक-एक रुपया और जाचूँ भला-बुरा। मैं स्कूल का नौकर हूँ, तुम्हारा नहीं !"

सरल इसी स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ता था।

× × ×

दूसरे दिन स्कूल में—

"जिस लड़के को फ़ीस माफ़ करानी है वह मुझसे आकर ऐपलीकेशन फ़ार्म ले ले और भरवाकर कल वापस कर दे"—मास्टर साहब ने क्लास में आर्डर दिया।

कुछ लड़कों के फ़ार्म ले चुकने पर सरल भी अपनी सीटसे उठा और सकुचाता हुआ धीरे-धीरे मास्टरसाहब के सामने पहुँचकर फ़ार्म के लिए उसने हाथ जो फैलाया, तो मास्टर साहब को जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया, "अरे तुम्हें भी चाहिए ! तुम तो मालदार आसामी हो। तुम्हारे पिता तो एक सेठ के यहाँ नौकर हैं—हैं न ! अपने पिता जी से कहना कि ग़रीब लड़कों का हक़ क्यों छीनते हैं !"—और कह कर उन्होंने सरल के हाथ में एक फ़ॉर्म पकड़ा दिया।

इन शब्दों को सुनकर सरल का मुख लाल पड़ गया। वह नीचा सिर किए हुए फ़ार्म लेकर अपनी सीट पर आ बैठा। पास ही बैठे हुए सहपाठी ने उसके कुहनी मारकर कहा—"अरे यार तुम तो इतने मालदार हो, फ़ीस माफ़ करा कर और धन जोड़ना है क्या !"

कान्तिचन्द्र—

सरल ने झिड़कते हुए कहा, "तुझे इससे मतलब ?" फिर खड़े होकर मास्टर साहब से पूछा; "मास' साब इस महीने में कुल फ़ीस कितनी ली जायगी ?"

"कुछ नहीं, यही दस रुपए तीन आने, जिसमें सालाना मैगज़ीन, स्याही, ब्रदरहुड, रीडिंगरूम और बिल्डिंग फीज़ भी शामिल हैं !"

छुट्टी हुई। सरल सीधा घर आया। नलिनी से बोला, "माँ, वे तो कहते हैं कि इस महीने में सिर्फ़ दस रुपए तीन आने लिए जाएँगे, और फ़ीस माफ़ कराने के लिए फ़ार्म भी दे दिया है"—सरल ने जेब से फ़ार्म निकाला और नलिनी की ओर बढ़ाते हुए बोला, "लो यह है।"

'दस रुपए तीन आने—सिर्फ !' नलिनी सन्नाटे में आ गई और वहीं बैठ गई माथा पकड़कर—'या भगवान इतनी फ़ीस—इतने छोटे दरजे की—क्या होगा, कैसे होगा !"

× × × ×

१४ तारीख़। स्कूल—

"अरे, क्या सरल ! रो क्यों रहे हो—इसलिए कि फ़ीस माफ़ नहीं हुई ?"—सर्वेश कुमार ने सरल का कंधा पकड़कर अनुरोधपूर्वक पूछा।

"नहीं तो—"कहकर सरल आँसू पोछने लगा।

"क्या करें—इस स्कूल की तो बातें ही निराली हैं। झूठ मानो तो तुम्हारे सर की क़सम, मैंने तो लाला जी से छिपाकर ही ऐप्लीकेशन दे डाली थी और मुफ़्त में डेढ़ रुपया ब्रदरहुड फंड से मार दिया। अच्छा हुआ चलो, घर से चाट के लिए पैसे नहीं मिलते थे, अब जेब-ख़र्च

भी चलेगा। लेकिन मुझे बड़ा ताज्जुब है कि तुम्हारा तो हाफ़रेट भी नहीं हुआ !"

सर्वेश की दृष्टि ताज्जुब से भरी हुई थी।

"राम जाने !" सरल ने अन्यमनस्क उत्तर दिया।

"और नहीं सुना—अनिल का बाप कैसा मालदार है, तब भी उसकी पूरी फ़ीस माफ़ हो गई। सुना है कि उसके पिता की स्कूल के सैक्रेट्री से गहरी दोस्ती है। और भी सुनो ! मास्टर बनर्जी को नक़द सौ रुपए मिलते हैं, तब भी आशुतोष की फ़ीस माफ़ हो गई !"

सर्वेश के स्वर में घृणा थी !

सरल चुप था, चुप रहा।

× × × ×

सरल अब समझदार हो चला था। घर की परिस्थति का उसे ज्ञान हो गया था, और हो गया था अनुभव उसे अपनी छोटी-सी दुनिया का भी।

रोज़ाना के आने-जाने का रास्ता; वही बनारस की तंग और चक्कर-दार गलियाँ। सरल तेज़ी से चला जा रहा जा। उसे बड़ी घुटन लग रही थी। साँस लेना मुश्किल हो रहा था।

जैसे-तैसे घर पहुँचा। उसका फूल-सा मुख कुम्हलाया हुआ था और शरीर गरम था।

नलिनी ने पूछा, "बेटा क्या हुआ ?"

"माँ, फ़ीस माफ़ नहीं हुई......"और उसका गला रुंध गया।

कान्तिचन्द्र—

"नहीं माफ़ हुई !"

और नलिनी ने सरल को अपनी छाती से चिपटा लिया।

सरल सुबकने लगा था—

× × × ×

उसी दिन रात को दो बजे—

समस्त प्रकृति निश्चल और निस्तब्ध रजनी के हीरक जड़ित अंचल में सो रही थी।

कभी-कभी धीमी ठंडी वायु का कोई हल्का झोंका सरल के तप्त शरीर को हल्के से स्पर्श कर चला जाता।

"तो बोलो, फिर फ़ीस का क्या प्रबंध होगा ?"

"तुम्हीं बतलाओ न ! मैं क्या करूँ ? महीने में पच्चीस रुपए सुबह से शाम तक एड़ी-चोटी का पसीना एक करके पैदा करता हूँ। उसी में घर का सब ख़र्च चलता है और लेनदार को देता हूँ।"

"तो इसका मतलब है लालू को स्कूल से उठा लिया जाए ?"

"दूसरा चारा ही क्या है ?"

"मैं अपनी मोहनमाला गिरवी रखकर फ़ीस का प्रबंध कर दूंगी !"

सरल के कराहने की आवाज़ सुनकर दयाचंद्र चौंक पड़े। नलिनी ने कहा, "शाम को जब वह स्कूल से लौटा था, तो उसका माथा गरम था। शायद लू लग गई। मैं ऐसी परेशान रही कि ख़्याल ही नहीं रहा।"

नलिनी उठकर सरल की चारपाई के पास चली गई।

× × × ×

१५ तारीख़। सुबह के पाँच बजे—

"माँ ओ माँ—तू अपनी माला गिरवी मत रख...मैं स्कूल—आह बड़ा दर्द है—जला जा रहा हूँ माँ......माँ फ़ीस माफ़ नहीं हुई।"...

"न बेटा, तू स्कूल मत जाना।" व्यग्र और व्यथित नलिनी ने अश्वासन दिया। दयाचंद्र भी बोले—

"क्या ज़रूरत है जाने की बेटा—घबराते क्यों हो ?"

सरोज बोली, "वाह, मेरा भय्या अब स्कूल क्यों जायगा ? अब तो वह बड़ा हो गया है। कालिज नहीं जायगा क्या ?"

"माँ....मास' साब कहते हैं तुम बड़े मालदार हो। माँ मैं स्कूल नहीं जाऊँगा—बाबूजी मैं स्कूल नहीं जाऊँगा—सरो ! ओ सरो मैं स्कूल नहीं जाऊँगा........!"

सरल भावावेश में उठ बैठा। नलिनी और दयाचन्द्र ने सहारा देकर फिर लिटाला।

दयाचन्द्र ने कहा, "सरसाम में है। ज़रा दिन निकले, तो डाक्टर को बुलाकर लाऊँ !"

लेकिन सरल बिलकुल चुप था।

"अब सोने दो !" सरोज बोली—"भय्या सो गया।"

नलिनी ने देखा : सरल की आँखें आधी बन्द थीं—पलक उठाकर देखे : पुतलियाँ पथरा गई थीं।

"हमेशा के लिए सो गया री सरो !"

और नलिनी मूर्छित हो गई।

कान्तिचन्द्र—

दयाचन्द्र पछाड़ खाकर गिर पड़े।

सरोज चीख़ पड़ी—"हाय भय्या!"

आज पंद्रह तारीख़ थी और सरल को फ़ीस देनी थी। स्कूल जाने का समय समीप आ रहा था।

४

मनुष्यता की रूपरेखा

अलीगढ़] [शरद, १६३६

मनुष्यता की रूपरेखा

"अरे तुम यहाँ कैसे ?"

किसी ने पीछे से मेरे कंधे पर हाथ मारकर बड़े तपाक से पूछा। स्वर भारी था। मैं चौंक पड़ा। रात के घने अंधकार-पटल पर से आँखें हटाकर, कंपार्टमेंट की बिजली के उजाले में जो फेरीं, तो रजनी का एक दूसरा ही रूप दिखाई पड़ा : आपाद-मस्तक काले आवरण से ढकी हुई एक मूर्ति !

अँधेरे में से एकदम उजाले में देखने से मेरी आँखें कुछ चौंधिया गई थीं। मैं पहचान न सका। दृष्टि गड़ाए उनकी ओर देखता ही रहा। लेकिन यह देखना पलक मारने की देर भर तक था। वह काला पतलून और काला ओवरकोट पहने हुए थे। रेलवे यूनीफ़ार्म के सफ़ेद-सफ़ेद बटन चाँदी से चमक रहे थे। मैंने पहिचान लिया; प्रश्न का उत्तर दिया—"सिर्फ़ कान-पुर तक जा रहा हूँ। छुट्टियाँ तो हैं ही; सोचा ज़रा सैर ही कर आऊँ।"

"और क्या, छुट्टियाँ सैर के लिए तो होती ही हैं। मैं तो जब आगरे में पढ़ता था, तब इतवार के इतवार कम-से-कम टूंडला या फ़तेहपुर सीकरी का चक्कर तो लगा ही आता था।"

"लेकिन आजकल इधर कैसे ?"

"आजकल मेरी ड्यूटी टूंडला से कानपुर तक है—इसी बीच में 'रन' करता हूँ—" टी. टी. आई. ने एक यात्री का टिकट काटते हुए कहा।

"अच्छा तो सेठजी टिकिट जल्दी निकालिए—" टी. टी. आई. ने एक भारी-भरकम सेठ-से लगते मनुष्य से कहा। गाड़ी सनसनाती हुई चली जा रही थी। सर्दी के मारे मुसाफ़िर सिकुड़े जा रहे थे। डिब्बे की सब खिड़कियाँ बंद थीं; तब भी ऐसा लगता था कि सर्दी आज पड़कर फिर कभी नहीं पड़ेगी। टी. टी. आई. ने जेब से काले ऊनी दस्ताने निकाल कर पहन लिए।

सेठ जी शक्ल-सूरत और क़द्दोक़ामद में गणेश जी के वंशज मालूम होते थे। सफ़ेद दुपल्लू की टोपी लगाए कम्बल में ऐसे लिपटे बैठे थे कि मालूम होता था धोबी की गठरी रखी है।

इतनी देर में बहुत टटोल-टटालकर उन्होंने टिकिट निकाला और टी. टी. आई. के हाथ में देते हुए कहा—"लीजिए।"

टी. टी. आई. ने टिकिट पंच किया और एक तरफ़ इशारा करते हुए बोले—"यह बच्चा किसका लेटा है सेठ जी ?"

"आप ही का है"—सेठजी ने शिष्टाचार दिखाया।

"शुक्रिया ! लेकिन इसका टिकिट ?" टी. टी. आई. ने आजिज़ी

से पूछा।

"इतने छोटे बच्चों का भी कहीं टिकिट लगता है ? यह तो अभी साढ़े चार बरस का ही है—और फिर जैसा आपका बच्चा, वैसा मेरा बच्चा !"

"लेकिन रेलवे के तो बच्चा नहीं होता। आपको कुछ क़ायदे क़ानून की भी ख़बर है या यूँ ही ? तीन साल के बच्चों का टिकिट नहीं लगता !"

"यह तो बड़ी धांधली है साहब !"

"ख़ैर जो कुछ भी हो। क़ानून क़ानून है। कानपुर तक इसके आधे टिकिट के दाम पैनल्टी समेत एक रुपया बारह आने हुए, निकालिए—" कहकर टी. टी. आई. चार्जशीट बनाने लगा।

सेठ जी ने टेंट से रुपए निकाले; मुँह बिगाड़ा जैसे रोगी ने कड़वी दवा का घूंट पिया—

"चार आने वापिस कीजिए और रसीद काटिए।"

टी. टी. आई. ने दो रुपए लेकर उनकी जाँच की, फिर उन्हें पर्स में डालकर एक चवन्नी सेठ जी को वापस कर दी और चार्जशीट देते हुए कहा,—"लीजिए रसीद मैंने पहले ही लिख ली थी ! हाँ, तो सेठ जी ज़रा तकलीफ़ कीजिए, मैं भी बैठ जाऊँ।"

सेठ जी ने कुंठित होकर अपना बिस्तरा, जो अभी तक सारी बेंच पर फैला हुआ था, समेटा और ख़ुद भी एक तरफ़ सरककर सिमटकर बैठ गए। लगभग एक तिहाई बेंच टी. टी. ई. के लिए ख़ाली कर दी।

...और एक तरफ़ इशारा करते हुए बोले—
"यह बच्चा किसका लेटा है सेठ जी?"

तत्पश्चात् मुँह पर कम्बल डाल लिया, जैसे अपने को पराजय और तिरस्कार से विलग कर लिया हो।

गाड़ी की चाल धीमी हो गई। अगला स्टेशन पास आ रहा था। ब्रेक का एक हल्का-सा धक्का लगा। गाड़ी स्टेशन पर रुकी। सेठ जी के स्वप्न-संसार में भूचाल आ गया। हड़बड़ा कर जग पड़े और ऐसे पैर फैलाए कि टी. टी. आई. बिचारा एक फ़िट तक ऐसा सरका चला गया जैसे बिलियर्ड की गेंद !

"लाहौल विला क़ूवत, तुम भी कहाँ बैठे हो! थर्डक्लास में तो हमेशा मौत समझो। बैठे-बैठे बदन तख़्ता हो जाता है। कमर दर्द करने लगती है। जल्द सामान उठाकर मेरे साथ चलो। गाड़ी का स्टॉपेज बहुत कम है और कानपुर अभी बहुत दूर है। हरी अप!" कहकर टी. टी. आई. एकदम उठ खड़े हुए, और फिर बोले, "चलो आराम से सेकिंड में सोएँगे।"

"लेकिन मेरे पास तो थर्ड का टिकिट...."मैं हिचकिचाया।

"तुम भी भई अजीब हो। आख़िर डरते क्यों हो? मैं तो तुम्हारे साथ हूँ। इस वक़्त गाड़ी मेरी और मेरे बाप की।"

मैं सफ़र में हमेशा कम से कम सामान रखता हूँ। और ख़ासकर ऐसे अवसरों पर जब सिर्फ़ सैर की ही ख़ातिर निकलता हूँ। उस समय मेरे पास केवल एक अटैची, एक रज़ाई, और एक ओवरकोट था। हाँ, और एक हल्की-सी छड़ी भी। छड़ी और ओवर कोट तो टी. टी.-आई. ने उठा लिए। रज़ाई और अटैची लेकर मैं पीछे-पीछे हो लिया

हम मुश्किल से सेकिंड क्लास तक पहुँचे थे कि गाड़ी सरकने लगी। टी. टी आई. ने जल्दी से दरवाज़ा खोला और सफ़ाई से डिब्बे में चढ़-कर मेरा सूटकेस और रज़ाई ले ली। और फिर तो मैं भी सावधानी से चढ़ गया।

कंपार्टमैंट बिल्कुल ख़ाली था। हम लोगों ने बिस्तरा बिछाया और संतोषपूर्वक बैठ गए। गाड़ी सनसनाती हुई पूरी रफ़्तार से चली जा रही थी।

इस टी. टी. आई से मेरे चाचा जी की बहुत पुरानी मित्रता थी। यह और वह साथ ही रेलवे में नौकर हुए थे। दुर्भाग्य से मेरे चाचा जी 'कमी' में आ गए थे। तब से मुरादाबाद में घर पर ही रहते थे। उनसे घनिष्टता होने के कारण यह टी. टी. आई. अक्सर आया-जाया करते थे। इसीलिए मुझे भी अच्छी तरह जानते थे। मैं इनको टी. टी. आई. ही कहकर सम्बोधन करता था। नाम था शिवनंदन पांडे।

थोड़ी देर की चुप्पी के बाद हम लोगों ने पुनः बातचीत आरम्भ की।

"हाँ तो, मैं तुम्हारा नाम तो भूल ही गया......क्या...यह लो.... भला सा नाम है...."

"आप हमेशा नाम ही भूल जाते हैं।"

"ओह—लो, तुम्हें रजनीकांत कहते हैं न ! हाँ ठीक अब याद आ गया।"

"हाँ, यही तो। लेकिन आपकी याद बहुत तेज़ है"—मैंने हँसते हुए कहा।

इतने ही में टी. टी. आई. की नज़र बर्थ के नीचे गई। वहाँ उन्हें कुछ सफ़ेद-सफ़ेद-सा दिखाई दिया। अपनी जगह से उठे और झुककर देखा; कपड़ा जानकर खींचा। उसमें तो कुछ चिपटा हुआ भी मालूम हुआ; टी. टी. आई. ने कहा—'कोई मुर्दा मालूम होता है।' कुछ डरकर अलग खड़े हो गए। लेकिन फिर हिम्मत करके उसे खींचकर बाहर निकाला। वह तो जीता-जागता मनुष्य था। टी. टी. आई. ने बर्थ पर से मेरी छड़ी उठाई और पूरी ताक़त से उसकी पीठ पर जमाते हुए बोले,—'साले बदमाश ? बिना टिकिट चल देते हैं—और फिर मुसाफ़िरों की जेब काटते हैं; उनका माल लेकर चल देते हैं। चोर ! बदमाश ! उठकर खड़ा हो"—साँय-साँय-साँय !—तीन हाथ टी. टी. आई. ने उसकी नंगी पीठ पर लगा दिये थे।

वह उठ कर खड़ा हो गया नंगे बदन; केवल घुटनों तक बँधी थी फटी-मैली एक धोती। मुँह से 'सी' भी नहीं निकली !

टी. टी. आई. की क्षण भर पूर्व की सौम्य मूर्ति अब विकराल यम की सी हो गई थी ! आँखों से लाल चिनगारियाँ निकल रही थीं; कड़क कर फिर बोले—"तेरे साथ और भी कोई है या नहीं ?"—और टार्च का स्विच दबाया और बेंच के नीचे रोशनी डाली। एक लड़का चुपचाप दीवार से लगा सिकुड़ा पड़ा था। उसे भी बाहर खींचकर निकाला और वही साँय—साँय—सड़ ! सड़ !

जब कहीं और आश्रय न पाकर वे दीवार का ही सहारा लेने के लिए उससे चिपटने लगे, तो टी. टी. आई. ने आदेश दिया, "दीवार

से चिपटकर मत खड़े हो ! साले आराम चाहते हैं आराम !"

गाड़ी कानपुर पहुँच रही थी। रात के साढ़े तीन बजे थे। ठंडी हवा के झोंके तीर से लगते थे। इस झगड़े में खिड़कियाँ भी बन्द नहीं की थीं हमने। मुझे जाड़ा लगने लगा। अभी तक तो केवल कोट पहने, ओढ़े हुए बैठा था; परन्तु मुझे उठकर ओवरकोट भी पहनना पड़ा।

ओवरकोट पहनते पहनते मेरी दृष्टि बरबस उन दोनों की तरफ़ खिंच गई जो नंगे बदन खड़े सर्दी के मारे बरफ़ हुए जा रहे थे !

मैंने सहानुभूतिसिक्त स्वर में कहा—"दीवार के सहारे बैठ जाओ। खड़े क्यों हो ? हवा से तो बचोगे।"

लेकिन टी. टी. आई. बीच में ही ग़ुर्राकर बोले—"खड़ा रहने दो हरामज़ादों को ! मरें भी तो !"

वे चोर थे या डाकू मुझे नहीं मालूम ! हाँ, यह ज़रूर जानता हूँ कि अच्छे ख़ासे दो युवक थे।

मैंने खिड़की ऊपर चढ़ा दी। बाहर हाथ निकाला तो मालूम हुआ कि हल्की-हल्की बूंदें पड़ रही हैं। काली रात के सिवाय कुछ और दिखाई नहीं देता था। पेड़ और झाड़ियाँ काल पर मनुष्य के अत्याचार के काले दाग़ मालूम पड़ रहे थे।

गाड़ी की छकाछक। हवा की सनसन। इसके अतिरिक्त वृक्षों की आपस में कानाफूसी और पूर्ण शांति।

पास ही खड़े उन दोनों युवकों की दाँती बज रही थी। पर उसे सुननेवाला कौन था ? मैं भी तो सेकिंड क्लास में आराम से बिना

टिकिट चलते हुए भी सुरक्षित था; सकुशल था !

पर यह अंतर क्यों ?

"क्या यही मनुष्यता की रूपरेखा है ?" —वृक्षों की फुसफुसाहट, वायु की सनसनाहट, और गाड़ी की छकाछक रह रहकर मुझसे पूछ रही थी !

५

फिर उधर

प्रयाग] [नवम्बर, १९३८

फिर उधर

"आज ज़रूर जाओगे ?"

'हाँ, अब यहाँ गुज़र होना मुश्किल है ?"

रामजस के प्रश्न का सतना ने जवाब दिया ।

सतना अब तक किसी न किसी तरह गुज़ारा कर ही रहा था। कोई चार मन गेहूँ चैत के रखे थे । कुछ बाजरा और ज्वार बँटाई में मिले थे । इस तरह तीन महीने तक तो उसे पेट भरने में कोई विशेष अड़चन पड़ी नहीं । ख़रीफ़ की फ़सल को पाला मार गया, वरना उसे आशा थी कि बैसाख तक के लिए उर्द या अरहर मिल ही जाएँगें। केवल सूखे आटे से तो आदमी का पेट भर नहीं जाता ! दाल-तरकारी की भी ज़रूरत होती है । और कुछ नहीं तो कम-से-कम ग़रीब आदमी को रोटी के साथ नमक तो मिलना ही चाहिए । वह उसी में संतोष कर लेता है; क्योंकि मजबूरी—विवशता का ही तो दूसरा नाम संतोष है ।

कान्तिचन्द्र—

गाँव के बनिए से दाल और नमक उधार आता रहा था। सतना उसका मूल्य ज्वार और बाजरे से चुका देता था। परन्तु जब वे भी चुकने को आए, तब कुछ दिन उधार लेकर ही काम चलाया। परन्तु जब बनिए के दो रुपए उधार हो गए, तब उसने आगे और उधार देने में आनाकानी की। सतना ने सोचा—'चलो अब शहर में चलकर नौकरी ही की जाए। वहाँ चार छः आने रोज़ की मज़दूरी तो मिलेगी ही। गाँव में दो आने रोज़ की पैदा भी मुश्किल है।' बाल-बच्चों की रोटी का सवाल तो सतना को किसी न किसी प्रकार हल करना ही है।

× × × ×

रामजस और पार्वती एक ही गाँव के थे। बचपन में साथ-साथ खेतों, बाग़ों, और पोखरों में खेले कूदे थे। पार्वती का ब्याह बारह बरस की ही उमर में भमोरा के सतना से हो गया था। उसके दो बरस बाद रामजस की भी एक पड़ोस के गाँव में ससुराल हो गई थी। तब रामजस सोलह का था और उसकी दुलहिन ग्यारह की, नाम था सामो। विवाह के कुछ दिन बाद ही अपने गाँव निगोई के ज़मींदार से 'बेगार' पर रामजस का झगड़ा हो गया था। रामजस बड़ा स्वाभिमानी था। यद्यपि निगोई में उसकी कई बिस्वे मौरूसी ज़मीन थी, फिर भी वह उसे दूसरों को सौंप कर गाँव छोड़ कर चला गया और भमोरा में आकर पार्वती के पास रहने लगा।

रामजस ने आते ही सतना के काम में हाथ बँटाया और दो ही

फ़सलों के बाद उसने कई खेत स्वयं ही जोतने के लिए ले लिए। आठ-नौ महीने के अंदर उसने दो छप्पर छा लिए और निगोई से सामो को ले आया। सतना के घर से सामो का ख़ूब मेल रहता था।

× × × ×

रामजस ने पार्वती से अपने मन की बात जवानी में भी कभी भूलकर नहीं कही थी, और अब अधेड़ अवस्था में तो कहता ही क्या? लड़कपन में वह कुछ शर्मीला भी ज़्यादा था। जब पार्वती बड़ी हुई थी, तब उसके उभरते शरीर को देखकर रामजस कुछ चकरा गया था। और अपने मन की बात कहने को कभी उसका मुँह पड़ न सका। लेकिन रामजस कहता भी तो क्या कहता? वह अपनी भावनाओं की भाषा तो जानता ही न था। वह बस केवल इतना ही जानता था कि पार्वती उसे एक अच्छी लड़की मालूम होती है। क्यों अच्छी लगती है? उसमें क्या अच्छा लगता है? यह सब वह नहीं जानता था। रामजस पेड़ पर चढ़कर पार्वती के लिए आम और इमली तोड़ लाता था। ज़मींदार की बग़िया में से अमरूद और नारङ्गी चुरा लाता था, और उसके लिए गाएँ हाँककर गोधूली में घर पहुँचा देता था। इसीलिए पार्वती उससे ख़ूब मेल रखती थी, और उसे चाहती भी थी। न चाहती तो उसे आम, अमरूद, इमली और नारङ्गी कौन ला-लाकर देता?

आख़िर ब्याह क्या है, क्यों होता है?—तब यह रामजस और पार्वती में से एक भी नहीं जानता था। वे इसे भी गुड़िया गुड्ढे का-सा खेल ही समझते थे। रामजस ने पार्वती के ब्याह में ख़ूब हँस-खेल

कर भाग लिया था। पार्वती जब ससुराल से पहली बार लौटकर आई थी, तब रामजस भागता हुआ उसे देखने गया था। पार्वती तो रामजस को देखकर कुछ शरमाई थी, कुछ सकुचाई भी थी। लेकिन रामजस पार्वती की लाल चूनरी, हरी गोटदार, पीला लहँगा माथे पर सेंदुर की टिकुली, बालों में चाँदी का बोली, हाथों में लाल मेंहदी, और पैरों में गुलाबी महावर देखकर ताज्जुब में पड़ गया था। उसने सोचा था—'पार्वती अब तो बिलकुल बदल गई।'

और जब दो-चार दिन वह उससे नहीं बोली, तो रामजस ने एक दिन गाल फुलाकर कह ही तो दिया—"ब्याह के अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर बड़ी घमंडिन हो गई है। मैं भी देखूगा जब मेरा ब्याह होजायगा।" तभी से रामजस ने पार्वती के साथ खेलना-कूदना धीरे-धीरे करके अन्त में बिलकुल ही बन्द कर दिया था।

अब वह बड़ा भी हो गया था। खेत में हल चलाने जाता था। उसका ब्याह होने को तो हो गया था, पर जब गौना हुआ तब वह समझदार हो गया था। उसने पार्वती के ब्याह का मतलब समझा था और समझ कर उसके हृदय में एक टीस-सी उठी थी, जिसकी कसक वह आज भी अपने प्राणों से प्यार से चिपटाए फिरता था! पार्वती को सुखी देखना ही उसने अपने जीवन का अभीष्ट बना लिया था।

रामजस ने यह सब कुछ सोचा, जब सतना ने शहर जाने की बात उठाई। जी-जान से पार्वती और उसके बच्चों की सहायता तथा देख-भाल करना उसने अपना कर्तव्य समझा। सतना को रामजस पर पूरा

भरोसा और विश्वास था; क्योंकि वह जानता था कि पार्वती और उसके कुटुम्बों में दाँत काटी रोटी थी।

× × × ×

सामो ने देखा कि उसका पति पार्वती के ही काम-काज में दिन-रात लगा रहता है—आख़िर बात क्या है? लेकिन उसने अपना यह संदेह रामजस पर प्रकट नहीं होने दिया।

पार्वती भी सोचती थी कि अब रामजस की कृपाओं का बोझ मेरे सिर पर बहुत बढ़ता जाता है। इसलिए चाहे वह एक वक़्त भूखी रह जाती, पर रामजस के घर जाकर न तो अपना दुखड़ा ही रोती थी और न हाथ ही फैलाती थी। सामो की आँखें, अपना संदेह छिपाकर रखने की चेष्टा में ही उसे अनजाने ही प्रकट कर बैठी थीं। सामो को इसका ज्ञान न था; लेकिन पार्वती इस बात से बहुत दुखी थी। पर उधर सतना के घर की दशा भी तो रामजस के हिये की आँखों से छिप न सकी। यह तो गाँव के बुड्ढे से लेकर बच्चे तक को मालूम था कि सतना की लहलहाती गेहूँ की खेती पर पूस का पाला पड़ गया है।

रामजस बिना सामो को बतलाए ही कुछ अनाज और दाल पार्वती के घर एक दिन रात को लेकर पहुँचा। सतना को गए कोई एक पखवारा होने आया था। कोई ख़बर संतोषजनक नहीं मिली थी। पार्वती का हाथ बेहद तंग था!

पार्वती रामजस की इस सहायता को स्वीकार करने में कुछ सकुचाई—"भैय्या यह रोज़-रोज़ का बोझ मैं अपने सिर पर कहाँ तक

उठाऊँगी......और फिर तुम्हें इस समय सामो भौजी यहाँ आया जान लेंगी तो—

"तो क्या तोप दम कर देगी ! जब सतना भय्या शहर से लौटेंगे तब देखी जाएगी। कोई एक पाला करम पर तुषारपात थोड़े ही कर गया। अगली बार रामजी की दया से ख़ूब अच्छी उपज होगी। थोड़े दिन की बात और है। फिर मुसीबत और फ़िकिर काहे की ! जब तक मैं ज़िन्दा हूँ, तुम्हें कोई तकलीफ़ नहीं होने दूगा। जानती हो हम लोग बचपन के साथी हैं !"

पार्वती को भूला हुआ बचपन याद आ गया। कुछ जी घबड़ाया-सा। परन्तु वह सुखद अतीत अब उससे कोसों दूर पीछे रह गया था—जहाँ वह अब लौटकर नहीं पहुँच सकती थी ! सोचा, 'इन बातों से अब फ़ायदा ?' फिर उसे अपनी वर्तमान दशा का स्मरण हो आया—नाज या दाल स्वीकार करे या नहीं ? स्वयं तो वह एक समय भूखी रह भी सकती है, लेकिन अंतिया और समरथ की बात तो अलग है। यही सोचसाचकर पार्वती ने कहा—"तो भय्या...कम-से-कम अपना हिसाब...तो रखना......"

रामजस 'हिसाब' की बात सुनकर एकदम खिन्न हो गया। अपने और पार्वती के बीच में हिसाब ? बचपन से लेकर आज तक वह अगर पार्वती और अपने बीच आम, अमरूद, नारंगी, और इमली का हिसाब रखे एक तरफ़, और दूसरी तरफ़ रखे भोले आनन्द के क्षण, जो कूदती खिलखिलाती पार्वती ने दिए थे, तो उसके ऊपर ही इतना बड़ा उधार है, जो किसी

भी हिसाब के परे है, और जिसे इस जीवन में चुकाने में शायद वह अस-मर्थ था। मलिन स्वर में रामजस ने कहा—"हाँ! हाँ! सब कुछ हो जायगा पर तुझे आखिर इन झंझटों से क्या?—मैं सब कुछ सतना भय्या से निबट लूंगा!"

पर दूसरे ही पल से जो कुछ भी थोड़ा बहुत हिसाब उसे अपने नाज-पानी का याद था, उसे भी वह भूल जाने की कोशिश करने लगा।

× × × ×

भमोरा से सतना बरेली आया। साथ में वह एक लोटा और कम्बल लेकर चला था। चलते समय रामजस ने तीन रुपए भी उसे बिना माँगे ही दे दिए थे। उन्हीं से उसने पंद्रह तक काम चलाया।

सतना सिटी स्टेशन की धर्मशाला में ठहर गया था, जिसमें तीन दिन से अधिक किसी यात्री को टिकने नहीं दिया जाता। चौथे दिन सोने के लिए जगह की समस्या सामने आई। जाड़े के दिन, यह भी नहीं कि चाहे जहाँ पेड़ के नीचे या सड़क के किनारे पड़ रहो। घर से निकलते समय सतना को इन छोटी-छोटी किन्तु बड़ी तकलीफ़ देनेवाली मुसीबतों का क़तई कोई ध्यान नहीं था। दिन छोटा होने के कारण जल्दी कट जाता था। पिछले तीन दिनों में उसने शहर की नाज और सब्ज़ी की मंडियों में पल्लेदारी करके दो-ढाई आने पैदा किए थे। पर इतनी कम मज़दूरी पर कैसे गुज़ारा होता; शहर का रहना-सहना ठहरा।

कान्तिचन्द—

जब वह गाँव में था, तभी उसने बरेली के दियासलाई के कारख़ाने की बात सुनी थी। यह कारख़ाना महेशपुर में है। चौथे दिन इन समस्याओं को सुलझाने के लिए वह महेशपुर चल दिया। बड़े साहब के पास जाना था। सतना गाँव का आदमी ठहरा। मिलने-जुलने का ढंग तो जानता नहीं था। फैक्ट्री के गेट पर पहुँचते ही चौकीदार से भेंट हुई।

"क्या चाहते हो? साहब दस बजे मिलेगा। जाओ"—चौकीदार ने कुछ झिड़की सी देते हुए कहा।

"भय्या यहाँ कुछ काम दिलवा दो। बड़ा गुन मानूँगा,"—सतना ने कुछ ऐसे ढंग से विनय की कि चौकीदार को उसके प्रति कुछ सहानुभूति हो गई। उसने सतना से कहा—"अच्छा मैं कोशिश करूँगा। तुम दस बजे तक यहीं कहीं बैठकर इंतज़ार करो।"

साढ़े नौ बज ही रहे थे, दस बजने में अधिक देर नहीं लगेगी। सतना आसपास इधर उधर घूमकर कारख़ाने को देखने लगा।

ठीक पौने दस बजे फैक्ट्री के बड़े साहब आ गए। देर में रामफल ने पता लगा लिया था कि तीन दिन तक बिना छुट्टी के गैरहाज़िर रहने से जगदम्बी निकाल दिया गया है। जगदम्बी की बीबी गाँव में बीमार थी। वह ख़बर पाते ही फ़ौरन चला गया था, इस आशा से कि शाम को ही लौट आयगा। लेकिन पत्नी की तबियत ज़्यादा ख़राब होने के कारण वह लौट नहीं सका था।

रामफल ने जाकर साहब से कहा—"हुज़ूर जगदम्बी की जो जगह

कल खाली हुई है, उसके लिए उम्मीदवार है। मैं उसे जानता हूँ। काम अच्छा करेगा। मेहनती आदमी है।"

साहब ने कहा—"अच्छा हमारे पास लाओ।"

फैक्ट्री में दस का घंटा बजते-बजते सतना आ पहुँचा था। रामफल उसे अंदर साहब के पास ले गया और रास्ते में सलाम करने का ढंग बता दिया। साहब ने कहा—"ठीक है। आज ही से काम शुरू कर दो। आठ आना रोज़ मिलेगा।"

सतना ने झुककर सलाम किया और बड़ी कृतज्ञता पूर्ण आँखों से अंग्रेज़ साहब को देखा।

क़िले के नीचे जो कोठरियाँ हैं, उन्हीं में इस फैक्ट्री के मज़दूर रहते हैं। एक एक कोठरी में नौ नौ आदमी तक। सतना को भी जिस कोठरी में रामफल की सहायता से स्थान मिला, उसमें पाँच मज़दूर रहते थे।

पहले सप्ताह की मज़दूरी सतना को शनिवार की शाम को मिल गई। इतवार को फैक्ट्री की छुट्टी थी। वह गाँव चला गया। वहाँ जाकर देखा कि पार्वती, समरथ और अंतिया, सब अच्छी तरह हैं। रामजस की सहायता के कारण किसी को कोई कष्ट नहीं हुआ था। सतना ने गाँव के अपने मिलने जुलने वालों से रामजस की बड़ी प्रशंसा की। चुन्ना बड़ा शक्की और बदमाश आदमी था। पार्वती पर उसकी आँख गड़ी थी। इसीलिए उसे रामजस की प्रशंसा अच्छी नहीं लगी। सतना के मुँह से रामजस की इतनी बड़ाई सुनकर उससे रहा नहीं गया। गाँव

के मुखिया से बोला—"कोई बेमतलब भलाई थोड़े ही करता है। उसका बड़ा स्वारथ है। मुझे तो दाल में कुछ काला मालूम पड़ता है। रात को देर तक वहाँ मौजूद रहता है। और...स्वर धीमा करके, हाँ मैंने अपनी आँखों से देखा है—कोई सुनी सुनाई बात थोड़े ही कह रहा हूँ।"

मुखिया ने कहा—"होगा। तुझे क्या पड़ा है ? जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा। लेकिन है ज़रा गाँव की बदनामी की बात। ख़ैर, जब कुछ होगा, तब देखा जायगा।"

× × × ×

फैक्ट्री में होली की दो दिन की छुट्टी हुई। सतना ने घर जाने की तैयारी की। छुट्टी होने से एक दिन पहले ही उसे मज़दूरी मिल गई थी। घर के लिए कुछ सामान ख़रीदने बाज़ार आया था। पार्वती के लिए एक महीन धोती ख़रीदना चाहता था। समरथ के लिए जापानी रबर और गटापार्चा के खिलौने। और पुंतिया के लिए एक अच्छी सी रेशमी ओढ़नी।

कोतवाली के बाज़ार में वह बिसातियों की दुकान पर खिलौने देख रहा था। इतने में उसकी नज़र चुन्ना पर पड़ी, जो टोपीवाले की दुकान पर एक दुपल्लू टोपी का सौदा कर रहा था। सतना ने आगे बढ़कर पूछा—"कहो भय्या चुन्ना राम राम। कब आए ? गांव में सब कुशल क्षेम तो है ?"

चुन्ना ने मुड़कर सतना को देखा—"हाँ है सब ठीक। तुम गाँव

कब चलोगे ? छुट्टी तो हो गई होगी !"

"हाँ हाँ आज ही से हुई है। तुम यहाँ कैसे आए—घर पर त्योहार छोड़ कर ?"

"यों ही ज़रा काम था तहसील में।"

"रामजस भैया तो मज़े में हैं।"

रामजस का नाम सुनकर चुन्ना ने मुँह बिचकाया। फिर ज़रा व्यंग करते हुए बोला—"हाँ उसके तो गहरे हैं ? तुम यहाँ पड़े हो—वहाँ वह तुम्हारे माल से मज़े लूटता है।......वहाँ बदनामी फैल रही है। गाँव के बच्चे बच्चे की ज़बान पर रामजस और पार्वती का नाम—"

सतना यह सब कुछ सुनकर हक्का-बक्का सा रह गया। वह जो कुछ सुन रहा था उस पर उसे एक दम कुछ विश्वास-सा होने लगा—'तभी वह मेरी इतनी मदद करता है। दिन रात मेरे ही घर में घुसा रहता है। मुझसे कैसी मीठी मीठी बातें करता है। जब मैं घर गया तो पार्वती कैसी खुश थी जैसे मेरे शहर चले आने का उसे कोई रंज ही न हो। मालूम होता है बचपन से ही रामजस से आँख लगी है—तभी वह अपना गाँव छोड़ कर यहाँ मेरे गाँव में बसने आया है। जानबूझ कर ज़मीदार से लड़ाई मोल ले ली होगी—बहाना चाहिए था न"—और सतना इसी तरह की अनेक बातें सोचने लग गया। चुन्ना उसे अपना बड़ा हमदर्द मालूम हुआ। उसकी तरफ़ उसने बड़ी दीनता पूर्ण दृष्टि से देखा—और आँखों में आँखें डालकर पूछा, "तब ?"

चुन्ना ने सतना पर अपना रंग पड़ता देखकर गड़बड़ होने की

आशंका से बात बदली—"छोड़ो भी। इसमें परेशान होने की कौन सी बात है। कल गाँव में चलकर देख सुन लीजो। परन्तु भैया तू इतना दुबला कैसे हो गया?"—चुन्ना ने बड़े स्नेहसिक्त सहानुभूति के स्वर में कहा—"रंग भी तो काला पड़ गया है और आँखें गड्ढों में घुसी जा रही हैं। और यह नीले नीले कपड़े," चुन्ना ने सतना के कपड़ों की ओर संकेत किया, "अब तो बिल्कुल जमराज से लगते हो।"

सतना ने चुन्ना की एक बात भी नहीं सुनी। वह रामजस और पार्वती की ही बात सोच रहा था—'अब मैं गाँव में जाकर कौन सा मुँह दिखाऊँगा! सब उंगलियाँ उठायेंगे। क्षण भर को भी जीना दूभर हो जायगा।'

चुन्ना ने फिर अपनी बात समाप्त करते हुए कहा—"अच्छा चल अपना नया घर तो दिखा दें मुझे।"

मशीनों के वातावरण में काम करने वाला सतना मशीन की तरह ही हो गया था। बिना कुछ आना कानी किए उसके पैर मशीन की तरह ही चलने लगे। चुन्ना और सतना क़िले की ओर बढ़े चले जा रहे थे।

× × × ×

पार्वती और अपने संबंध में गाँव भर में उड़ती चर्चा रामजस ने सुन ली थी। पर उसको अपने नाम की इतनी परवाह नहीं थी, जितनी कि पार्वती की नेकनामी-बदनामी की। वह बड़ा परेशान रहने लगा। सामो की तरफ़ से उसका जी हट गया; क्योंकि वह जानता था

कि इस सब की जड़ वही है।

इहीं सब बातों को ध्यान में रख कर रामजस ने पार्वती के घर रात-बिरात आना जाना बंद कर दिया था। जो कुछ काम होता था उसे या तो वह स्वयं ही दिन में कर देता था, सामों के द्वारा करा देता था।

रामजस बड़ा उद्विग्न-सा बैठा सोच रहा था—'कल सतना होली करने आता होगा। उसे जब यह बातें मालूम होंगी, तो कितना दुखी होगा। मैं तो उसके सामने आँख भी नहीं उठा सकूंगा; क्योंकि यह सब मेरी ही वजह से तो हुआ है। सच और झूठ की दुनिया कब छान बीन करती है!'

× × × ×

आज चौदस थी। भोर होते ही रामजस खेत में गोभी और मटर तोड़ने चला गया। आज उसका सतना भैया जो शहर से आठ बजते बजते आ जाएगा!

पार्वती की ख़ुशी भी ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता जाता, त्यों त्यों बढ़ती जाती थी। सारे घर आँगन का कोना कोना झाड़-बुहार कर साफ़ कर दिया था। पिड़ोर से पुती हुई रसोई बड़ी भली लग रही थी। अंतिया और समरथ घर भर में ऊले ऊले फिरते थे—"आज हमारे काका आँगे। खिलौना लाँगे। मिठाई लाँगे!" कह कह कर उन दोनों ने घर आँगन सिर पर उठा रखे थे।

पार्वती ने बड़े चाव से आलू मटर की रसे की तरकारी और गोभी आलू सूखा बनाकर पूरियाँ उतार ली थीं।

कान्तिचन्द्र—

आठ बजे, नौ बजे, दस बजे...और बजते चले गए। पर सतना नहीं आया, नहीं आया!

रह रहकर रामजस पूछने आता, "आ गए?"

और पार्वती मुँह लटका कर उत्तर देती, "नहीं!"

शाम से रात हो गई। रामजस सड़क पर पहुँचा और वहीं खड़े रहकर प्रतीक्षा करने लगा। जो इक्का आकर खड़ा होता उसी में वह सतना को खोजता। खड़े खड़े रामजस को बहुत देर हो गई। चौदस का चंद्रमा उदय हो आया था। चाँदनी अच्छी तरह फैल गई थी। उसी के प्रकाश में रामजस ने एक इक्के से चुन्ना को उतरते देखा। बढ़कर पास पहुँचा और बोला—"क्यों रे चुन्ना, बरेली से आ रहा है क्या? सतना भैया से तो भेंट नहीं हुई वहाँ?"

"मैं क्या जानूं? मुझे क्यों मिलता? मैं क्या उसे खोजने जाता? तुझे ही उससे और उसकी घरवाली से बड़ा काम रहता है," चुन्ना ने इक्के से उतरकर खड़े होते होते कह डाला।

रामजस की उदासीनता तुरंत ही क्षोभ और क्रोध में बदल गई। वह धीरे से गरज कर बोला—"चुन्ना होश में है या नहीं! ज़बान सँभाल कर बात कर। बहुत सह चुका हूँ। कल जलती होली में ही उठा कर न फेंक दिया, तो असल बाप से पैदा नहीं! फाँसी ही तो होगी!"

चोर बदमाश का दिल ही कितना? चुन्ना डर गया। खिसियाई हँसी हँसकर बोला—"मैं तो यों ही हँसी कर रहा था। बुरा मान गए?"

रामजस चुन्ना की बात का उत्तर दिए बिना ख़ून का सा घूंट पीकर पार्वती के पास लौट आया।

"क्या वे नहीं आए?"—चिंतित और उदास पार्वती ने पूछा।

"नहीं,"—भरी-सी आवाज़ में रामजस ने उत्तर दिया; फिर स्वर तेज़ करके बोला—"मैं कल सवेरे तड़के ही बरेली जाऊँगा!"

रामजस की इस बात ने निराश पार्वती को थोड़ी-सी आशा दे दी। लेकिन वह उदास थी, उदास रही।

× × × ×

सूरज निकलते रामजस सतना की कोठरी में था। उसने देखा! सतना बिल्कुल स्याह पड़ गया है। कंकाल-सा ही अकेला पड़ा खांस रहा है। कोठरी के अन्य निवासी अपने-अपने घर होली करने चले गए थे।

सतना पड़ा-पड़ा मन ही मन ख़ून के घूंट उगल-उगल कर रामजस से घृणा, विश्वासघात और क्रोध की होली खेल रहा था। सोचता था एक दिन रात को जाकर गँड़ासे से टुकड़े-टुकड़े कर दो। अनायास ही रामजस को दरवाज़े पर खड़ा देखकर जैसे दीनता से बोला—"रामजस भैया अब क्या मेरी जान लेने आए हो?"

सतना के इस एक कथन से ही रामजस सारी परिस्थिति समझ गया। उसका सिर घूम गया। कोठरी की किवाड़ को कसकर पकड़ लिया। वह गिरते गिरते बचा। एक मिनिट तक वह मौन रहा। फिर सावधान होकर बोला, "अपनी जान देने आया हूँ—तुम्हारी लेने नहीं!

कान्तिचन्द्र—

तुम तो आज बरसों से मुझे देखते आए हो। सच झूठ समझ सकते हो। सुनी सुनाई बातों पर विश्वास करना कहाँ तक ठीक है, यह भी जानते हो। गाँववाले तो किसी का सच्चा साफ़ मेल-जोल किसी ग़ैर मर्द या आन औरत से सोच ही नहीं सकते। वहाँ बहुत सी बातें फैली हैं लेकिन मैं अभी तक तुम्हारे ही विश्वास पर जीता था। आज देखता हूँ तुम भी बदल गए ! तो मुझे अब अपनी सफ़ाई देने की भी कोई ज़रूरत नहीं है। मैं तुम्हारे सामने मौजूद हूँ जो चाहे कर सकते हो। लेकिन यह ज़रूर जानना चाहता हूँ कि यह सब बातें तुम्हें मालूम कैसे हुईं !"

कोठरी में सन्नाटा छाया था। सतना सब कुछ चुपचाप सुनता रहा। परन्तु रामजस की बात ने उसे पुनः विचार करने के लिए प्रेरित किया। उसने सोचा—'अगर रामजस दोषी होता तो आज मेरे सामने यह मुँह लेकर कैसे आता ? सारी बात कह गया बिल्कुल शांति से, चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। न क्रोध, न डर ! ठीक तो कहता है—"मैं तुम्हें बरसों से देखता आया हूँ—झूठ सच समझ सकते हो !—हाँ अगर कोई बात थी और मैंने नहीं देखी, तो मैं अंधा था—इसमें इसका क्या दोष। और फिर सारा दोष इसी का कब है ? पार्वती भी तो साझेदार है। कौन जाने अधिक दोष उसी का हो—तब इससे कुछ कहना तो अन्याय होगा। फिर अपनी सफ़ाई भी देना नहीं चाहता। कहता है मौजूद हूँ जो चाहो सो करो। हो न हो चुन्ना ने कुछ बहकाया ज़रूर है,—इस लम्बे सोच विचार की चुप्पी के बाद सतना ने कहा—"कल चुन्ना मुझे बाज़ार में मिला था। वही कह रहा था।"

"और तुमने उसकी बात मान ली। जैसे चुन्ना को जानते नहीं। गाँव का छुटा हुआ गुंडा ! गाँव भर की बहू-बेटियों पर नज़र डालता है। अब तक तो न जाने कितनियों को ख़राब कर चुका है। और सच्ची बात जानना चाहते हो तो सुनो। पार्वती पर उसकी नज़र न जाने कब से है—और गाँव में यह यह सारा बखेड़ा उसी का फैलाया हुआ है। और चाहे जो कुछ हो, मुझे उसकी अक़्ल ज़रूर ठिकाने लगानी है।" रामजस के खिन्न मन में एक बार फिर जोश भर आया।

"हूँ, यह बात है। मैं सोचता था कि आख़िर चुन्ना मुझ से क्यों झूठ बोलेगा। अब सारा मतलब मेरी समझ में आ रहा है।"

सतना गंभीर हो गया—लेकिन उसके दिल का बोझ उतर गया था—यह नया हल्कापन उसकी ख़ुशी थी, जो उसके मुख पर अब स्पष्ट झलक रही थी।

× × × ×

माह पूस के शीत से ठिठुरा हुआ सतना का विश्वास वसंत की हल्की गरम धूप में सरसों सा पक गया। रामजस ने प्रस्ताव किया, "अब सामान यहाँ छोड़कर चलने की क्या ज़रूरत है। लौट कर आने की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारी तंदुरुस्ती भी तो बिगड़ी जा रही है। यहाँ मिल में कोयला और धुआँ। रात दिन मशीन की चकचक !"

रामजस के चिरपरिचित स्नेह और विश्वास से सतना मशीन से फिर मानव बन गया।

सारा सामान दो गठरियों में बँध गया—लेकिन अभी पार्वती की

कान्तिचन्द्र—

महीन धोती, अंतिया की रेशमी ओढ़नी और समरथ के खिलौने शेष थे। किंचित गर्व से रामजस को दिखाता हुआ बोला—"कल ही ख़रीदे थे—इतने चाव से। शाम ही पहुँच जाता तो अंतिया और समरथ कितने ख़ुश होते।"

"हाँ, कल दोनों के दोनों इसी आशा से घर भर में कूदते फिरते थे। शाम को निराश होकर सो गए!"

"यह सब चुन्ना की कारिस्तानी है। गाँव चलकर समझूँगा!"

"अब उस नीच की बात मत करो।"

एक एक गठरी रामजस और सतना ने बाँट ली और चल दिए।

जाड़े के सूरज की किरणें अब गरम हो आई थीं। नौ बज रहे थे। खुली सड़क थी। सतना आज फिर उधर चला जा रहा था, जहाँ मशीनों की चकचक नहीं थी, मिलों की चिमनियों का धुआँ नहीं था; लेकिन गाँववालों की चकचक थी, अफ़वाहों का धुआँ था। परन्तु इससे क्या? वहाँ प्रकृति तो स्वच्छंद थी, मनुष्य का एक मनुष्य सच्चा साथी था, और थी एक सच्ची साथिन भी।

रामजस सच्चा साथी था। पार्वती सच्ची साथिन। अब उन मानवों का स्वर्ग पृथ्वी पर ही था।

मानव की अमानवता के कारण स्वयं मानव ने ही स्वर्ग को सातवें आसमान पर पहुँचा दिया है, पृथ्वी को नरक बनाने के लिए। परन्तु वह सच्चा स्वर्ग नहीं है। वह स्वर्ग की कल्पित छाया है। वहाँ ईश्वर नहीं है।

मानव ही ईश्वर था। मानव का स्वर्ग पृथ्वी पर ही था।

६

बटनवाली

प्रयाग] [अक्टूबर, १९३८

बटनवाली

"तो क्या बेटा आज एक पैसे के भी बटन न लेगा !"

धीरे धीरे वह मुझसे दो तीन बार कह चुकी। पर मैं बुंदा नीबूवाले से सौदा कर रहा था, सुना अनसुना कर दिया।

बुंदा दो पैसे के तीन नीबू से ज़्यादा नहीं देना चाहता था, पर मैं भी आज अड़ गया था कि चार ही लेकर हटूंगा। एक तो उसका रोज़ का बँधा हुआ गाहक; दूसरे इधर दो दिन से बाज़ार में नीबू आने भी ख़ूब लगे थे, और अन्य दुकानों पर पैसे के दो बिक रहे थे। ख़ैर, उसने अपना पुराना गाहक टलता देखकर कहा—"अच्छा साब नाराज़ न हों। आप मेरे पुराने गाहक हैं, बोलिए कै पैसे के दूँ !"

मैंने दो पैसे निकालकर उसे दे दिए और उससे चार नीबू लेकर थैले में डाल लिए।

मुड़कर चलने को हुआ तो देखा बटनवाली अब भी मेरे आगे

हाथ बढ़ाए खड़ी है। उन लाल—सफ़ेद खुरखुरे हाथों में कपड़े के आठ बटनों की एक पिंडी थी। वह कहने लगी—"बेटा देख कितनी देर से खड़ी हूँ, आज क्या एक पिंडी भी न लेगा?"

उसकी आवाज़ भारी थी। मालूम होता था कि इधर कई दिन से यकायक सर्दी बढ़ जाने की वजह से उसको कुछ ज़ुकाम था। और फिर बुढ़ापा ठहरा; सभी मौसम दुख देते हैं; जाड़ा हो, गरमी, या बरसात। मैं सोच ही रहा था—'इससे बटन मोल लूँ या न लूँ?'

एक तरह से मैं इसका रोज़ का गाहक बनता जा रहा था। लेकिन बटन तो कोई खाने-पीने की चीज़ नहीं, जिन्हें मैं नियमित रूप से प्रतिदिन ख़रीद सकता।

मैं इसी उधेड़-बुन में चुप था। बुंदा बोला—"हाँ साब, बेचारी को खड़े खड़े बड़ी बेर हो गई। अब तो एक पैसे के लेई लो। बेचारी ग़रीबिन है। और बाबू तुम्हारा एक पैसे में क्या बनता बिगड़ता है—अल्लाह ख़ुश रखे, समझ लेना मोहताज को ही दे दिया।"

'मोहताज' का नाम सुनकर बुढ़िया कुछ चौंकी—"न, न, बेटा तो मत ले! मोहताज बनकर पैसा लेना होता, तो भीख न माँगती! इन मिटे बटनों को बनाने में ही क्यों रात-रात भर दीदे फोड़ती?"

और वह चल दी।

मैं आगे बढ़ा।

"नहीं नहीं, ठहरो तो। आज सचमुच मुझे बटनों की ज़रूरत भी थी। मेरे नौकर ने चलते वक़्त कह भी दिया था। कई दिन से उसके

कुर्ते में बटन नहीं हैं। जाड़े में उसका सीना खुला देखकर मुझे भी तरस आ गया। तो ला फिर उसके लिए दो पिड्डियाँ दे दे" कहते हुए मैंने उसे दो पैसे निकालकर दिए।

उसने एक फटी-मैली छोटी सी पोटली खोलकर एक पिंडी बटन और निकाले—"देखा, ये मुए कौंजड़े मुझे भिखमंगिन कहते हैं। बेटा मेरी सारी ज़िंदगानी बीत गई, पर कभी किसी के आगे एक धेले के लिए भी हाथ नहीं फैलाया!"

मेरी नज़र उसकी फूली, सुर्ख़, और कीचड़ से भरी आँखों की तरफ़ बरबस उठ गई। मैंने देखा: उनमें आत्माभिमान की ज्योति थी, जो मेहनत और ईमानदारी से पैसा पैदा करनेवालों की ही आँखों में देखने को मिलती है।

वह अपनी बात कहे जा रही थी:

"जब हसन के बाप ज़िंदा थे..." वह कुछ रुकी, जैसे गले में कुछ अटक सा गया हो।

मैं बीच में ही बोल पड़ा—"हसन कौन?"

पहले तो कभी उसने मेरे सामने यह नाम लिया नहीं था; पर वह बोली, "मेरा बेटा! और कौन हसन। मैं तुझसे कै बार कह चुकी हूँ कि हसन मेरा बेटा था, वही एक बेटा था, बड़ा भला बेटा......"

यह कहते कहते उसका गला भर आया। आँखों में आँसू आ गए, जिन्हें उसने अपनी कलाइयों से चिपटी, फटी, मैली-चीकट कुर्ती की बाहों से पोंछ डाला।

कान्तिचन्द्र—

"तो उनके ज़माने में बेटा मुझे किस बात की कमी थी भला ! मैं रानी थी रानी !" उसने शांत होकर गर्व के साथ कहा। लेकिन तुरंत ही वह उदास हो गई—"लेकिन जब अल्लाह ने उन्हें बुला लिया, तो बेटा हम मज़दूर पेशा आदमी ठहरे, घर में कोई थाती तो गड़ी रखी नहीं थी, खाने के भी लाले पड़ने लगे। तब मेरा हसन बारह बरस का रहा होगा। मजबूरन उसे पल्लेदारी करने भेज दिया......" कहकर उसने एक गहरी साँस ली, जो उसके मोटे नथुनों से बाहर निकलती सी दिखाई दी। तत्पश्चात उसने ऐसी मुद्रा बनाई जैसे किसी कठिन बात को कहने के लिए साहस बटोर रही हो।

"बेटा उतनी छोटी उमर और डेढ़ डेढ़ मन का पल्ला उठाना पड़ता था—हाय मेरे लाल के सिर और गर्दन दर्द के मारे फट-फट पड़ते थे——लेकिन ख़ुदा की मर्ज़ी—सब आदत पड़ गई। और फिर वह बड़ा भी हो गया था। माँ बेटे की रूखी-सूखी गुज़र लायक़ चार-छः आने रोज़ की मज़दूरी हो जाती थी—इधर चार बरस से वह भी न रहा—उस साल का हैज़ा उसे भी निगल गया—!"

इस बार तो उसके आंसू बाढ़ की तरह आ गए। वह ज़मीन की तरफ़ देख रही थी जो उसके लाल को हज़म किए बैठी थी।

इस समय हम लोग कलुआ आलूवाले की दुकान के सामने खड़े थे। और खड़े खड़े शायद पाँच मिनट से कुछ ही ज़्यादा हुए हों तो हों, वरना कुछ ऐसी देर भी नहीं हुई थी। लेकिन कलुआ को मैं बहुत दिनों से जानता था। बड़ा हेकड़ आदमी था। रस्ता चलते लोगों से

छेड़ख़ानी किया करता। वह भौंहें चढ़ाकर बोला—'चल चल आगे! बाबू तुम भी किस हरामज़ादी की बातों में आ गए। यह ऐसे ही जिसे देखा उसके ही सामने नुनुआ ढरकाया करती है। बड़ी बहानेबाज़ है। गाहकों को बहकाती है! चल चल! इतनी देर से दुकान के आगे रास्ता घेर रखा है!"

कलुआ के इस टर्राने पर मुझे बड़ा ग़ुस्सा आया। लेकिन मैं करता तो क्या करता! इन लोगों के मुँह लगना भी तो अपनी ही बेइज़्ज़ती कराना होता है।

इधर मुझे उस बेचारी की बातों से और उसके फटे हालों की वजह से उस पर बड़ा तरस आ रहा था। सोचा इसकी कुछ और मदद करूँ। पर वैसे ही तो पैसे लेगी भी नहीं। मुझे बटनों की भी क़तई ज़रूरत नहीं थी। अभी अभी दो पैसे के बटन नौकर के नाम से झूठमूठ ही ख़रीद लिए थे।

मैं कुछ निश्चय न कर सका।

इतने में वह किसी और ग्राहक से बात करने लगी; और फिर चली गई।

(२)

जाड़ों में दस बजे स्कूल जाकर फिर वहीं खेलखाल कर शाम को चिराग़ जलते जलते तक ही लौट पाता था। और मुझे हमेशा ख़ुद ही तरकारी ख़रीदना पसंद है। इसलिए मैं रोज़ सुबह को तरकारी लेने सब्ज़ी मंडी जाया करता था। तब वह मुझे कहीं न कहीं ज़रूर ही

मिल जाती थी। क्योंकि मेरे वहाँ पहुँचने का वक़्त कुछ बँधा हुआ सा था ही, इसलिए आज बुंदा नीबूवाले की दुकान पर, तो कल ज़रा दूर हट कर ज़मीन पर रखी हुई कलुआ आलूवाले की दुकान पर किसी-न-किसी गाहक को अपने कपड़े के बटन बेचते हुए वह अवश्य ही मिल जाती थी। शायद पौ फटते ही वह सब्ज़ी मंडी पहुँच जाती थी, क्योंकि दो एक बार मैं तड़के ही तरकारी लेने गया, तब भी उसे वहाँ मौजूद पाया।

हाँ, तो जब मैं पहुँचता था, तो वह और गाहकों की तरह ही मेरे आगे भी हाथ बढ़ाकर बटन दिखाती और थोड़ी देर चुपचाप रह कर ही उन्हें मोल लेने को कहती—

लेकिन उसकी इस चुप में ही एक निहायत बेकस और बेबसी की आह थी, जिसे मैं तरकारीवालों से मोल-तोल और ताज़ी-बासी के झगड़े में भी भूल नहीं पाता था। कुछ क्षणों की ऐसी ही चुप के बाद फिर वह धीमी आवाज़ में कहती—'ले ले भैया, एक पैसे में आठ बटन हैं। धोबी के यहाँ कभी न टूटेंगे। ये चीनी के नक़ली बटन थोड़े ही हैं, जो घाट से साबित न लौटें;'—और फिर वह गाहक की तरफ़ अपनी दो बड़ी बड़ी फूली आँखें उठाकर देखने लगती, तो ऐसा लगता था जैसे उनमें जीवन का बड़ा गहरा अनुभव, आत्म-विश्वास, और विवेक भरा हो।

एक बार उसकी आँखें देख लेने पर अनजाने ही उसे आपाद-मस्तक देखने की जिज्ञासा होती।

मैंने उसे कई बार सिर से पैर तक देखा था। वह क़द की कुछ ठिगनी और बदन में भारी थी। ताँबे का सा रंग था और सारे बदन पर झुर्रियाँ पड़ी थीं। चेहरे पर चेचक के हलके हलके दाग़ थे और अनगिनती रेखाएँ भी। रोएँ और सिर के बाल पककर बर्फ़ की तरह सफ़ेद हो गए थे, परन्तु यह सफ़ेदी उसकी सत्तर वर्ष की ज़िंदगी की धूप में नहीं आई थी।

ग़रीबों के दुखों का अंदाज़ा न लगा सकनेवाले अकसर डाँटकर उसे दुतकार देते थे, जैसे वह उनसे एक पैसे की भीख माँगने आई हो—

"कपड़े के आठ बटन देकर एक पैसा ठगने चली है। इनका होगा क्या? ये हैं किस काम के? सीप के बटनों के आगे इन्हें कौन ख़रीदता है?"

वह चुपचाप सुनती और चुपचाप ही आगे बढ़ जाती। शहर में आनेवाले गाँव के लोगों और ग़रीब नीच जाति के हाथों उसकी कुछ अच्छी बिक्री हो जाती थी, परन्तु ऐसे लोग सब्ज़ीमन्डी और बिसातखाने में आते ही कितने हैं? दूसरे उन ग़रीबों को ज़रूरत ही कितनी पड़ती है? बहुत हुआ तो कुछ सफ़ेद-पोश खद्दरधारी सज्जन उससे कभी-कभी बटन ख़रीद लेते थे। वरना वह बेचारी सुबह से दोपहर तक सब्ज़ी मन्डी के एक कोने से दूसरे कोने तक यों ही चक्कर काटा करती थी। साँझ को वह शायद पैंठ चली जाती थी; जहाँ मैं समझता हूँ, उसकी अच्छी बिक्री हो जाती होगी; क्योंकि वहाँ शहर के आस पास के गाँवों के लोग कपड़ा और जिंस ख़रीदने आया करते हैं।

एक बार वह कह भी रही थी—"बेटा पैंठ न होय, तो मैं भूखी मर जाऊँ। सब्ज़ी मन्डी की बिक्री में दो चार पैसे से ज़्यादा नहीं मिल पाते, यहाँ तो बाबू लोग विलायती कपड़े पहननेवाले आते है।"

तो जब वह मेरी तरफ़ देखती, मुझे चुपचाप पैसा निकालकर उसकी हथेली पर रख देना पड़ता था।

ऐसा करने के लिए मुझे कोई मेरे अंदर से मजबूर करता था।

इस प्रकार मुझे उससे कम-से-कम एक पैसे रोज़ के बटन ख़रीदने की आदत पड़ गई। और सब्ज़ीमन्डी जाने की तरह ही यह मेरा एक स्वाभाविक कर्म हो गया था।

वह मुझे बहुत अच्छी तरह पहचान गई थी; एक भलाई करने वाले के रूप में, अथवा एक रोज़मर्रा के गाहक की शक्ल में, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर इतना ज़रूर जानता हूँ कि जब वह मेरी ओर देखती, तब उसकी आँखों में दीनता के बजाय मोह ही अधिक रहता था।

अधिकतर वह मुझसे 'बेटा' करके ही बोलती थी।

आठ दस दिन तक तो मैं घर आकर अम्मा को अपने बटन ख़रीदने की बात बताता रहा; पर अब वे मेरी नित्यप्रति की इस दानशीलता की कब तक सराहना कर सकती थीं।

"घर-गृहस्थी का मामला ठहरा, सौ तरह के ख़र्च हैं। और फिर न जाने कौन सा भारी ख़र्च सिर पर आ टूटे। तुम्हारे इस नित के दान के लिए मैं कहाँ से लाऊँगी। एक पैसा आपकी बटनवाली को चाहिए,

दो चार पैसे स्कूल के रास्ते में बैठे अंधे-लूलों के लिए, और एक डेढ़-आना आपकी चाट के लिए, क्यों न !" एक दिन वे कह ही तो बैठीं।

मुझे बहुत बुरा लगा।

"तो आप नौकर से तरकारी मँगा लिया करें—" मैंने कह दिया।

उस दिन से फिर मैं सब्ज़ीमन्डी नहीं गया।

बहुत दिनों बाद एक दिन शाम को मैं ऊन ख़रीदने बिसातख़ाने गया।

दिसम्बर का महीना था। जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था।

मैं चैस्टर पहने था।

जगन्नाथ बिसाती की दुकान पर बैठा मैं ऊन देख रहा था। मैंने देखा कि खुरखुरा भद्दा-सा हाथ कुछ सफ़ेद-सी चीज़ थामे मेरे मुँह की तरफ बढ़ा चला आ रहा है।

इतने में ही जगन्नाथ चिल्लाया—"हटती क्यों नहीं है पीछे ! क्या मुँह में ही हाथ घुसेड़ देगी।"

मैंने हड़बड़ा कर मुँह जो फेरा तो सामने बटनवाली को खड़ा देखा।

जगन्नाथ मुझ से कह रहा था—"बाबूजी यह लोग बड़ा परेशान करती हैं। सुबह से शाम तक ऐसे ही एक न-एक का तांता बँधा ही रहता है—......"

जब तक वह अपनी बात समाप्त करे करे कि बटनवाली बोल

उठी—"अरे बेटा तू है। इतने दिन से क्या परदेस गया था ? मैं तुझे रोज़ ढूंढती थी। कई दफ़े उस बुंदा और कलुआ से भी पूछा था, पर वे निगोड़े कब सीधे जवाब देते..." कहते कहते उसकी आंखों से ख़ुशी फूट पड़ी, मानों उसे अपना ही बेटा मिल गया हो।

मैं दुकान के तख़्ते पर बैठा था, वहां से उठकर खड़ा हो गया—"अच्छा बोल अच्छी तो है ? मुझे बटन चाहिए, ला कहां है ?"

"बेटा अब तो कुल आठ पिंडी बची हैं। और तू तो जाने है बेटा जब से खद्दर का पहनावा बढ़ा है, मेरे बटनों की बिक्री भी बढ़ गई है। सबेरे से सांझ तक पचास पिंडी बेच लेती हूँ। कोई चार आने बच रहते हैं।"

यह कहकर उसने बची हुई आठ पिंडियां मुझे दे दीं। मैंने उसे एक दुअन्नी दी, जो उसने अपने तमाखू-छाली के बटुए में डाल ली।

आज वह बहुत ख़ुश थी। इतने पैसों के बटन एक साथ मैंने उससे कभी न लिए थे। बड़ी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से वह मुझे ऊपर से नीचे तक देखने लगी।

उसकी नज़र मेरे ओवरकोट के बड़े-बड़े काले चमकते हुए आयवरी के बटनों पर पड़ी। उनमें से एक को पकड़ कर वह बड़ी उत्सुकता से पूछने लगी—"बेटा जे तो बड़े खूबसूरत बटन हैं, काहे के बने हैं ? क्या टीन के हैं ?"

"नहीं, यह बटन आलू-शकरकंदी के गूदे से बनाए जाते हैं।"

"हां, सचमुच ! सो कैसे ? इन्हें कौन बनाता है ?"

"यह मशीनों से बनते हैं, हाथ से नहीं। और बड़ी दूर समुंदर पार विलायत से बन कर आते हैं, समझी ?"

"हाँ, तब तो कभी न टूटते होंगे।"

"सो तो नहीं, देखने के ही ख़ूबसूरत हैं। दो धोब में ही टूट-फूट जाते हैं।"

"तब क्या फ़ायदा मिटे ऐसे बटनों का ?" उसकी उत्सुकता उदासीनता में बदल गई।

फिर कुछ सोचकर पूछने लगी—"लेकिन होंगे तो क़ीमती ?"

मैंने कहा—'हाँ, सो तो हैं। दो पैसे का एक मिलता है, आठ सोलह पैसों के।"

"तो देख बेटा ! इससे सस्ते और अच्छे तो मेरे बटन हैं। एक पैसे में आठ और सौ धोब में भी न टूटें"—उसने सोत्साह अपने माल की विकालत की। और फिर सुस्त हो गई। तत्पश्चात वह कुछ देर तक लालच और रोषभरी दृष्टि से मेरे बटनों को देखती रही।

फिर चलने लगी तो बोली—"बेटा कल से तो मैं बाज़ार नहीं आऊँगी। आगरे में मेरी हमशीरा बिस्सो के नवासे का ब्याह है। वहीं जा रही हूँ। पंद्रह-बीस दिन में लौट पाऊँगी।"

रात हो गई थी। सर्दी बढ़ रही थी। मुझे कुछ कंपकंपी सी आई।

मैंने बटनवाली से पूछा—"क्यों तुझे सर्दी नहीं लगती ? ख़ाली एक ठंडी दोहर ओढ़े है, कोई रुई का कपड़ा भी तो नहीं पहने है—"

यह कहकर मैंने उसकी ओर देखा, तो मालूम हुआ कि वह वास्तव में ठंड के मारे सिकुड़ी जा रही थी। अपनी उस फटी-मैली दोहर को देह से सटा कर वह ठंड से बचना चाहती थी।

"हाँ बेटा, अब तो जाड़ा बढ़ गया है। घर जाकर रुई की फ़तुई पहन लूंगी। अच्छा तो मैं जाती हूँ। ख़ुश रहना बेटा,"—कहकर वह धीरे-धीरे आगे बढ़कर कोहरे में छिप गई।

(३)

जब इटली ऐबीसीनिया को हड़प कर गई और जापान चीन को चटकर जाने की तैयारी करने लगा, तब मुझे भी कुछ लोगों की देखादेखी और अख़बारों में बड़ी बड़ी वक्तृताएँ पढ़कर गुस्सा आया। अतः मैंने भी विरोध किया : जापान के सीप और चीनी के बटन, तथा इटली के आयवरी के बटन ख़रीदना बंद कर दिया।

यह तो दिखावट के लिए एक बहाना भर था। पर असली बात यह थी कि बढ़ती उम्र के साथ अक़्ल के संग किफ़ायतशारी भी मेरे जीवन में एक स्थायी मेहमान बनकर आ गई थी। दूसरे उस बटन-वाली से बटन ख़रीदने की भी एक अच्छी ख़ासी सुविधा प्राप्त हो जाने की आशा थी।

इटली और जापान के प्रति विरोध की भावना का बहाना अम्मा को समझाने के लिए बहुत काफ़ी था। मैं उन्हें ज़रा फुसलाने की गरज़ से कहा करता—"तुम भी इतनी बड़ी होकर फ़ैशन के टंटों में पड़ी रहती हो। आयवरी के ही बटनों में क्या रखा है, तीन धोबों में ही

सूरत बुरी हो जाती है। और एक हैं आपके सीप के बटन, जो धोबी के पाट के डर से ही चकनाचूर हो जाते हैं!"

फलस्वरूप मेरे सभी कपड़ों में कपड़े के बटन लगने लगे थे। और मेरी देखादेखी घर के अन्य लोग भी यही बटन लगवाने लगे। जब इन बटनों की इतनी माँग बढ़ी, तो बटनवाली से ख़रीदे हुए वे मेरे बटन सब के सब काम में आ गए।

मुझे और बटनों की ज़रूरत पड़ी। बटनवाली की तलाश में तीन-चार बार सब्ज़ीमंडी गया, लेकिन वह नहीं मिली।

एक दिन मैंने बुंदा से पूछा, तो उसने कहा,—"हाँ साब, देखा तो मैंने भी उसे चार पाँच दिन से नहीं है। वैसे वह आगरे से तो लौट आई थी।"

"लेकिन वह रहती कहाँ है? तुम्हें पता मालूम है?"

"हाँ एकबार मैंने उसका घर देखा तो था......लेकिन कहाँ, सो याद नहीं," कहकर वह अपनी याद पर ज़ोर देने लगा,—"हाँ ठीक! याद आ गया," वह फिर कुछ रुककर बोला,—"वह 'सय्यदों की सराय' में रहती है। आपने मुन्नी पाड़ा तो देखा ही होगा, बस उसी के आगे 'सय्यदों की सराय' है।"

(४)

दूसरे दिन सुबह जब मैं घूमने निकला तो सोचा—'चलो उसका ही पता लगाऊँ। टहलना का टहलना हो जाएगा और काम का काम।'

कान्तिचन्द्र—

पूछता-पाछता, कई छोटी तंग गलियाँ पार करके मैं 'सय्यदों की सराय' जा पहुँचा।

वहाँ मैं ज़रा इधर-उधर पचास-साठ क़दम चल कर मकानों को घूरता हुआ एक कच्चे टूटे-फूटे मकान के पास जाकर रुक गया।

दरवाज़े पर एक टेढ़ी-बकुची झँगोला चारपाई पर एक बूढ़ा बैठा सबेरे की धूप खा रहा था। मैंने उससे पूछा—"बड़े म्याँ, यहाँ कोई बटन बनानेवाली भी रहती है?"

मेरा प्रश्न सुनकर वह उत्तर देने वाला ही था कि उसे बड़े ज़ोर की खांसी ने आ दबोचा। वह वहीं थूकने लगा।

कुछ देर तक उसकी खाँसी नहीं रुकी। और जब रुकी भी, तो उसमे जवाब देने लायक़ दम नहीं आया।

इतने में अंदर से एक अधेड़ स्त्री दरवाज़े पर निकल आई और बोली,—"किसे पूछते हो?"

"कोई बटनवाली यहाँ रहती है, उसी को'—मैंने कहा।

"क्या सकीना को? इस महल्ले में तो वही बटन बनाया करती थी। हम सब तो नामा कातते हैं।"

"थी! और क्या अब नहीं बनाती? और रहती कहाँ है?"

"हां। यहीं बराबर वाले मकान में रहती थी। आज पांच दिन हुए मर गई।"

"मर गई! कैसे?"

और मेरी नज़र बराबरवाले मकान की तरफ़ उठ गई। इसमें

इतने में अंदर से एक अधेड़ स्त्री दरवाज़े पर निकल आई और बोली—
"किसे पूछते हो ?"

कान्तिचन्द्र—

मकान के नाम में केवल एक मिट्टी का, आदमी की ऊँचाई के बराबर ऊँचा, घरौंदा था। टूटी-फूटी चार दीवारों के एक चौथाई भाग पर किसी छप्पर का कंकाल पड़ा था। शेष भाग खुला हुआ था।

बूढ़े की स्त्री ने मेरे प्रश्नों का जवाब देना शुरू कर दिया था—"इधर कुछ खाने-पीने भर को पैसा अच्छा पैदा करने लगी थी। फिर आगरे चली गई। जो कुछ पैसा था, वह वहाँ ब्याह में उठा आई। और रोज़ी मारी गई सो अलग। जब लौटकर आई तो खाने को भी नहीं था। जाड़ों के पहननें ओढ़नें के कपड़ों की बात तो रही अलग।"

"तब क्या वह भूखों मर गई?"

"नहीं; सो तो हम लोग उसे रोटी खिला देते थे। लेकिन आप जानते हैं कि माघ पूस के चिल्ला जाड़े, उस पर खुली कोठरी और ओढ़ने को कुछ नहीं। अच्छे खाते पहनते जवान इंसान की तो बोटी-बोटी थरथराती है, तब उस बिचारी की क्या बिसात थी! उस दिन रात को दिया जलाकर ज़्यादा रात तक बटन बनाती रही। सर्दी से ठिठुर कर रह गई। सवेरे मैं रोटी देने गई तो बेजान बर्फ़ की तरह ठंडी पड़ी थी।......

इसके आगे उसने क्या कहा, मुझे नहीं मालूम। मेरी नसों में ख़ून भी बर्फ़ की तरह जम गया था।

मैं चुपचाप सुन्न खड़ा था।

—बटनवाली

उस सबेरे की सहमी हुई जाड़े की धूप ने मेरे जमे हुए भावों को पिघला दिया।

वे द्रवित भाव बाहर निकलना ही चाहते थे कि मैं उन्हें आँखों में ही पी जाने की कोशिश करता हुआ लौटकर चल दिया।

Very interesting story

100

७

मर्मी

पीलीभीत] [जुलाई, १९३८

मर्मी

अभी इन्द्र को अपनी नई माई को देखे दिन ही कितने हुए थे। गत सप्ताह के मंगल को ही तो वह बरेली से मेरठ गर्मी की बड़ी छुट्टी शुरू होते ही चला आया था।

आज लौटकर फिर मंगल आ गया था, लेकिन इन्हीं सात दिनों में इंद्र की सुभा से कितनी आत्मीयता हो गई थी, यह समझना ज़रा मुश्किल है। दोनों ऐसे लगते थे जैसे हमेशा से ही एक दूसरे को जानते हों—जानते ही नहीं केवल, वरन एक दूसरे के आत्मीय रहे हों।

यह पहला ही अवसर तो था, जब इन्द्रमोहन का सुभाषिणी से ठीक से अच्छी तरह परिचय हुआ था। चार वर्ष पूर्व विवाह में उसने अनेक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित माई के हाथ-पैर ही देखे थे।

तब सुभा चौदह वर्ष की नववधू बन कर आई थी; गोरी; सुडौल और सुंदर।

इधर इन्द्र को कोई चार बरस तक मेरठ जाने का कोई अवसर नहीं मिला था। इस बीच में इसीलिए वह अपनी माईं से नहीं मिल सका था। मिलने की कभी कोई विशेष उत्सुकता भी नहीं थी, यद्यपि उसके मामा जी उसे छुट्टियों में कई बार बुला भी चुके थे।

परन्तु सुभा इन्द्र को देखने के लिए अवश्य उत्सुक थी, क्योंकि उसने पति से इन्द्र की प्रतिभा और गुणों की बड़ी प्रशंसा सुन रखी थी; सुन्दर है; हँसमुख है; पढ़ने में तेज़ है, वज़ीफ़ा पाता है; एक नम्बर का स्पोर्टसमैन है; गाता तो बहुत ही ख़ूब है; इन सब बातों के होते हुए भी घमंड छू तक नहीं गया है; बड़ा सीधा है।

इस बार परीक्षा देने के बाद इन्द्र के सन्मुख जब सैर का प्रस्ताव आया तो उसे तुरंत ही स्मरण हो आया कि रामनाथ मामा कई बार बुला चुके हैं; कहीं बुरा न मान जाएँ। सोचते होंगे कि बड़ा घमंड हो गया है। तो फिर वहीं चला जाए।

यही सोच बिचार कर इन्द्र अब की मेरठ चला आया था। रास्ते भर अनेक विचारों की खिचड़ी पकाता चला आया था: माईं जी मेरी कैसी ख़ातिरदारी करेंगी। हाँ, अभी देखा तो है नहीं, न जानें कितनी सुन्दर और मिलनसार होंगी। और यह सोचने पर वह माईं की रूप रेखा की कल्पना करने लगता। अपनी रुचि के अनुकूल हृदय पर कल्पना की तूलिका से माईं के रूप का चित्र बनाता और फिर सरल भावनाओं से रंग भी भर देता। जितना ही सुन्दर वह चित्र उतरता, उतना ही वह मेरठ पहुँचने के लिए आतुर हो उठता। परन्तु यह

आतुरता शीघ्र ही नॉर्मल हो जाती, जब वह सोचता कि सीधे और सौम्य मामा जी से वही पढ़ाई-लिखाई की शुष्क बातें करनी होंगी, जिनमें स्पोर्टस् और गाने की बातों से किसी प्रकार ही चेष्टा करके रस मिलाया जाएगा ।

पर ताँगे से उतरकर जो सीधा अंदर माई के कमरे में पहुँचा, तो कल्पित चित्र स्वप्न की तरह छिन्न-भिन्न हो गया ।

पलंग पर रक्तहीन और क्षीणकाय माई लेटी थीं। मुख में केवल आँखें ही आँखें मालूम पड़ती थीं।

इन्द्र के हृदय में ठेस लगी। उसके रूप की प्रथम झलक का ध्यान आया ।

कली खिलने से पहिले ही मुरझा गई थी ।

इन्द्र ने पलंग के पास पहुँच कर धीरे से हाथ जोड़कर नमस्ते की। और फिर तुरंत हा सावधानी से सहानुभूतिसिक्त स्वर में पूछा,—"कैसी तबियत है !"

किसी ग़ैर के मुँह से शायद आज पहली बार उसने इतनी सहानुभूति और और सहृदयतापूर्ण स्वर सुना था। उस क्षीण काया में भी वह पुलक उठी। पर इस पुलक को अपनाने के लिए उसके हृदय में कोई नहीं था, कुछ नहीं था ।

अभाव में पुलक की रजत रश्मि निराशा की काली रेखा भर रह गई ।

इन्द्रमोहन के आने की उसको पहले से सूचना भी थी—और वह

पलंग पर लेटी लेटी प्रतीक्षा के क्षण बिता रही थी। स्वप्नों का सुनह जाल बुनने के लिए उसके पास कल्पना में इन्द्र का चिरनिर्मित एक सुन्दर चित्र भी आधारसूत्र के रूप में था। बाहर द्वार पर किसी आहट के होने से उसके बुनने का क्रम रुक जाता था; टूटता नहीं था।

सुभा की कल्पना उसके सन्मुख साकार खड़ी थी। इस साकार कल्पना के पास सुन्दर वाह्य ही नहीं था, उसके अंतर्गत सहानुभूति और सहृदयता से पूर्ण एक आत्मा भी निहित थी।

सोने में सुगन्ध पाकर सुभा फूली न समाई थी। पर इस सुगन्ध-युक्त सोने को क्या वह अपने पास सँजों कर रख सकेगी? यह तो केवल उसके पास दिखावे के लिए आया है। तब उससे लाभ? आग में घी। प्रशांत अतृप्ति और अभाव में जलन और अंत में मरण। आग को जलना तो है ही, फिर वह सुलग-सुलग कर क्यों जले घृत के स्नेह और सुगन्ध से भरे हुए आलिंगन में बंध कर एक बार ही क्यों न तीव्रता से जलकर समाप्त हो जाय।

सुभा ने भी सोचा—'चाहे दिखावे के लिए ही सही, क्यों न वह उस सोने को जितना हो सके निहार ले—उसकी सुगन्ध अपने रोम-रोम में भर ले? शाश्वत पूर्णता का सुख न मिलने पर अस्थायी अपूर्णता के सुख को भी क्यों हाथ से जाने दे?'

"सब ऐसे ही ज़िन्दगी के दिन कटते हैं!" सुभा ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर इन्द्र को देखा। उसके स्वर में तो अभी सुदूर, पर चिरस्थाई निराशा फूट पड़ी थी; परन्तु नेत्रों में क्षणिक सौंदर्य-सुख

को पी जाने की लालसा छलकी पड़ती थी।

सुभा के नेत्र देखकर इन्द्र को अटपटा विस्मय हुआ और स्वर सुन कर स्पष्ट चिंता।

"लेकिन फिर भी बीमारी क्या है?"—इन्द्र का दूसरा प्रश्न था।

"लल्ला जी! दर्द के मारे सिर फटा जाता है। अब कुछ खाँसी भी हो गई है। हाथ-पैर तो ओले से ठंडे रहते हैं। डाक्टर कहते हैं कि थाइसिस है, क्योंकि पेट भी तो ठीक नहीं रहता"—कहकर सुभा ने एक संतोष की साँस ली, "लेकिन अब सब ठीक हो जायगा!"

और सचमुच ही सुभा की दशा में तीन-चार ही दिन में अद्भुत परिवर्तन हो गया।

क्रौनिक सिर दर्द भी अच्छा हो रहा था। इन्द्र से बातें करते समय तो शायद वह बिल्कुल नहीं के बराबर रहता था।

इन्द्र 'माई जी' से 'मम्मी' कहने लगा था।

पर सुभा अभी 'लल्ला जी' ही कहती।

इन्द्र को चिढ़ लगती; क्योंकि छोटा होने के नाते वह अपने को 'जी' के योग्य तो किसी भी प्रकार नहीं समझता था।

इन्द्र चटपटी बातें करके सुभा को हंसाता था। और बीच-बीच में चिढ़ाने के लिए कुछ कहने पर जो शर्माकर सुभा कहती—"लल्ला जी आप बड़े वैसे हैं!"

इन्द्र अनखना जाता।

"फिर वही! सीधा-साधा दो अक्षरों का नाम क्यों नहीं लेतीं!

नाम लेने के लिए होता है या...''—इन्द्र कुछ गड़बड़ा गया।

''सूरत देखने को'—सुभा हंस पड़ी, ''नाम की भी सूरत होती है। सूरत का नाम होता है। नाम लेने के लिए नहीं, मनन करने के लिए, ध्यान करने के लिए होता है''—सुभा सोचने सी लगी; फिर बोली—''पर मुझे तो आपका नाम लेने में कुछ शर्म सी लगती है''—और इन्द्र ने देखा कि मर्मी के श्वेत कपोल सचमुच ही लाल हो गए!

(२)

इन्द्र मोहन कई दिन तक सोचता रहा, पर उसे 'मर्मी' के इस रोग का कोई ठीक कारण नहीं मालूम पड़ा। वह सोचता था—'कोई और बात ज़रूर है, जिसकी वजह से मर्मी चिंतित होंगी। और फिर वही सतत चिन्ता दर्द बनकर सिर में बैठ गई है। वैसे तो मर्मी को कोई दुख नहीं है। रुपया-पैसा भी ख़ूब है। माँ-बाप भाई-बहन सब किसी से भरा-पूरा परिवार है। केवल एक सन्तान ही नहीं है, सो अभी शादी को कोई दस-बीस बरस तो हो नहीं गए।'

फिर उसे ख़्याल आया कि थाइसिस कभी-कभी वहम से भी हो जाती है। यह सब विचार कर एक दिन वह सुभा से बोला—''नहीं नहीं थाइसिस वग़ैरह कुछ नहीं है मर्मी, तुम्हारा केवल वहम है!''

''लल्ला जी आप नहीं जानते; सिर्फ़ वहम ही नहीं है, वहम तो मैं कभी करती ही नहीं। जबसे सुनील मरा, तबसे मेरा दिल भी बहुत कमज़ोर है''—कहकर सुभा ने माथा सिकोड़ा जैसे दर्द की जगह टीस उठी हो; फिर पलकें मूँदकर बोली—''एक साल का होकर हमें रुलाकर

चल दिया। माता जी ने कैसे लाड़-प्यार से हाथों ही हाथों पाला था। और उसके होने में मेरी भी बेहद देखभाल की थी, ज़रा भी तो तकलीफ़ नहीं होने दी थी !"

"हाँ तो, आपके सर दर्द का एक यह भी कारण हो सकता है—"

इन्द्र ने इतना ही कहा था कि सुभा ने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया--"देखिए लल्ला जी, हाथ कैसे ठण्डे हो रहे हैं !"

इन्द्र ने सुभा का हाथ अपने हाथ में लिया—जैसे बर्फ़ छू ली !

हाथों में वही कोमलता थी, पर सुडौलता नहीं। सौंदर्य निष्प्राण था !

इन्द्र ने इस बार अपनी ओर से ही सुभा के पैरों की तरफ़ हाथ बढ़ाया—"और पैर ?"

सुभा ने तेज़ी के साथ पैर खींचकर इन्द्र के हाथ पकड़ लिए—"नहीं-नहीं, पैर छूकर मुझे नरक में न ढकेलिए ! आप मेरे मान्य हैं... पूज्य हैं।"—और आँखें बन्द करलीं !

उसके हाथ अब भी इन्द्र के हाथों में थे। वे छूट गए। इन्द्र निष्प्रभ होगया। सङ्कोच से कहने लगा—"अरे मैं पैर छू थोड़े ही रहा था। और फिर बीमारी में तो ज़रूरत पड़ने पर छूने में क्या डर है ?"

"नहीं, फिर भी ज़रूरत ही क्या है ?" सुभा धीरे से बोली—"हाथों से ही देख लीजिए न !" और फिर अपने हाथ इन्द्र की ओर बढ़ा दिये।

इन्द्र को कुछ ग्लानि-सी लग रही थी जैसी एक भावुक बालक को बेक़सूर झिड़की खाने पर होती है। इस बार उसने सुभा के हाथों का

निमन्त्रण स्वीकार न किया। कुर्सी पीछे खींची और उठकर खड़ा हो गया।

"क्यों क्या नाराज़ हो गए ? अच्छा, मेरा माथा देखिए कितना गरम हो रहा है"—कहकर सुभा ने इन्द्र के निश्चेष्ट हाथ उठाकर अपने मस्तक पर रख लिए। इन्द्र अनमना-सा खड़ा था। उसने कोई आपत्ति नहीं की। इन्द्र को कुछ विचित्र सा लगने लगा।

सुभा के ललाट और मुख से ऐसा मालूम होता था जैसे वह बड़ी शांति और सुख अनुभव कर रही हो।

इन्द्र ने जल्दी से कुछ झटके के साथ अपना हाथ हटाया—"हाँ है तो"—और फिर कुर्सी पर बैठ गया। उसे बड़ी घुटन सी लग रही थी। वह बातचीत का रुख़ बदलना चाहता था। कुछ सोचकर बोला—"आपने शायद अँग्रेज़ी भी तो पढ़ी है ?"

"हाँ आठवें तक अँग्रेज़ी मेरी दूसरी ज़ुबान थी। लेकिन उसके बाद तो कुछ और पढ़ने को ही नहीं मिला। आगे पढ़ने की कितनी लालसा थी"—सुभा ने गहरी साँस छोड़ते हुए कहा, "पर घर गृहस्थी के धंधों में कौन किसे पढ़ने देता है। बहुत तबियत घबराती है, तो अख़बार उठाकर पढ़ने लगती हूँ—लेकिन अब तो डाक्टर ने इसके लिए भी मना कर दिया है।"

इन्द्र को सुभा के मुख पर जिज्ञासा प्रत्यक्ष दीख पड़ी, फिर कुछ मजबूरी सी भी, जब वह बोली—"और यह सब पढ़ना-लिखना उन्हें पसन्द भी नहीं।"

"क्यों, इस मामले में मामा जी इतने 'कंज़रवेटिव' हैं। वैसे तो इस घर में सबसे अधिक 'लिबरल' और 'मॉडर्न' भी वही हैं। देखने में कितने अच्छे लगते हैं, सीधे और भोलेभाले !" इन्द्र ने प्रशंसात्मक स्वर में कहा।

"हाँ ज़रूरत से ज़्यादा सीधे !" प्रभा के धीमे स्वर में भी व्यंग छिप न सका;—"दूसरे की भावनाओं को भी नहीं समझते। समझते भी हैं, तो परवाह नहीं करते। किसी की लालसाओं और आकांक्षाओं का उनके सामने कोई मूल्य नहीं। ख़ुद का दिल जैसे चिकनी पटिया है। पहली बिचारी भी ऐसे ही घुल-घुल कर मर गई।"

सुभा पैर के नाखूनों से बिस्तरे की चादर समटने सी लगी। फिर जब उसने अपनी आँखों चादर से हटाकर इन्द्र की ओर फेरीं—तो एक दृष्टि में ही जैसे उसके चारों ओर का सारा वातावरण अतृप्ति से व्याकुल और अभाव से व्यथित हो कर रो पड़ा।

इन्द्र को अपने किसी दोस्त से मिलने जाना था। पाँच बज रहे थे, लेकिन गर्मी के दिन—धूप अभी काफ़ी तेज़ थी।

सुभा ने चादर से मुँह ढक लिया था। इन्दु अपनी पहली माईं की बात सोचने लगा।

बाबू रामनाथ की पहली शादी उनके बी० ए० पास करते ही हो गई थी। दो चार महीने बाद वह सब रजिस्ट्रार नामज़द हो गए थे। सास-ससुर, नाते-रिश्तेदारों ने "पैर बड़े अच्छे हैं, लक्ष्मी है, साक्षात लक्ष्मी"—कह कर बहू की सराहना की थी। पर वह बिचारी अपना

सौभाग्य किसी और के लिए छोड़ कर दो बरस बाद ही चल दी। तपेदिक़ के रूप में दुर्भाग्य ने उसका अञ्चल खींचा था। बाबू रामनाथ ने सात आठ बरस तक तो दूसरा विवाह केवल भावुकतावश नहीं किया था, मगर वे अपने माता-पिता की नाती-पोते देखने की लालसा को अतृप्त ही रखने का पाप भी अपने सिर पर नहीं ढोना चाहते थे। फल-स्वरूप उनके बत्तीस वर्ष के जीवन में चौदह वर्ष की सुभाषिणी नववधू बन कर आ गई थी—केवल माता बनने के लिए। सात भावरों की भँवर में अपने नारीत्व को डुबो कर !

सुभा को सोता जान कर इन्द्र उसी के विषय में सोचता सोचता उठ कर चल दिया।

इन्द्र कब उठ कर चला गया—यह सुभा को नहीं मालूम हुआ। उसे इन्द्र कुर्सी पर ही बैठा दीख रहा था। हाथ बढ़ा कर बोली—"देखो हाथ फिर कितने ठंडे हो गए।"

हाथ ख़ाली कुर्सी से जाकर टकरा गए।

चारपाई के पाँयते बैठी हुई नौकरानी सुखिया बोल पड़ी—"किसका पूछत हौ ? इनदर बाबू तो कभू के चले गए"—और सुखिया चुप हो रही।

सुभा ने अपना हाथ कुर्सी पर ही पड़ा रहने दिया।

इधर दस दिन में प्रभा की तबियत बहुत अच्छी हो गई थी। यह देख कर इन्द्र मेरठ से मुज़फ़्फ़रपुर नगर अपने चाचा जी के घर चला गया।

इन्द्र की चाची की बहन भी मेरठ में ही रहती थीं। उसके पहुँ-चने के तीन दिन बाद ही वे भी अपनी बहिन से मिलने मुज़फ्फ़रनगर पहुँचीं।

चाची ने आते ही उनसे सुभाषिणी का हाल पूछा—"भौजी की अब कैसी तबियत है ?"

इन्द्र भी मौजूद था। चाची की बहन ने उत्तर दिया—"मैं कल शाम ही उन्हें देखने गई थी। जीजी लेने के देने पड़ रहे हैं। इतनी दवा दारू हुई तब भी यह हाल है। उसे देख मेरा तो जी अन्दर से भर आया। बिचारी का सिर दर्द के मारे फटा जाता था। डाक्टर ने सब को बातचीत करने और पास जाने तक की सख़्त मनाही कर दी है---और इसीलिए कमरे के आस पास भी कोई आहट तक नहीं करता।"

"मैं भी कई बार देखने का इरादा करके रह गई। घर-गृहस्थी के झंझट ही ऐसे होते हैं। फ़ुर्सत हो और यहाँ से निकलना हो, तब समझो जाना हुआ। फिर इन्द्र से मालूम हुआ था कि तबियत अच्छी है। तीन दिन में यह हाल कैसे हो गया री मालती !" चाची ने सुभा की दशा बिगड़ने का कारण जानना चाहा।

"ऐलो जीजी ! बीमारी का भी कुछ भरोसा है ? भला दीपक की लौ का क्या—कभी मद्धिम, कभी तेज़", मालती बोली।

इन्द्र एक दम व्याकुल हो उठा और 'मर्मी' के पास पहुँचने के लिए छटपटाने लगा। चाची से बोला—"तो देख क्यों नहीं आतीं। कल

मेरे साथ चलो न। मुझे भी लौट कर घर जाना है। मेरठ रुक कर माई जी को देखता हुआ सीधा चला जाऊँगा।"

"ठीक है। लेकिन ज़रा 'उनसे' भी तो पूँछ लूँ," चाची ने प्रस्ताव पर ग़ौर करने के लिए समय माँगा।

चाचा जी की भी यही राय हुई।

प्रोग्राम बन गया। कल सवेरे इन्द्र अपनी चाची और उनकी बहन मालती को लेकर मेरठ जायगा।

× × ×

रोगी का कमरा चारों ओर से बन्द था; सिर्फ़ दीवारों में लगे रोशनदान हवा के आने जाने के लिए खुले थे।

कमरे के पास से जो भी निकलता बड़े चुपके और धीरे से।

कमरे के अन्दर केवल सुखिया ही थी।

सुभा ने आँखें खोलीं, तो सुखिया ने धीरे से कहा—"बेटी इनदर बाबू के सङ्ग तुम्हारी मुजफ़्फ़रनगर वाली ननद आई हैं।"

सुभा एक दम जैसे खिल गई। आतुर होकर बोली—"तो उन्हें अन्दर बुला ला जल्दी से।"

चाची नहा धोकर पूजा करने बैठ गई थीं। इन्द्र ने कहा—"चलो मैं ही चलता हूँ।"

अन्दर पहुँच कर इंद्र ने क्षीणकाय 'ममी' को तकिए के सहारे अपनी प्रतीक्षा में बैठे पाया।

"तो मैं तो तुम्हें अच्छा छोड़ गया था। फिर चार दिन में ही

यह क्या कर लिया ?"

"क्योंकि आप 'छोड़ गए थे' न।" सुभा के पीले पीले शुष्क ओठों से एक सहमी-सी स्मित-रेखा निकली, जैसे धुंधले क्षितिज पर रात के अंधेरे के बाद उषा ने करवट बदल ली हो।

"लकिन आज तो मैं बिलकुल अच्छी हूँ। न जाने क्यों आज मेरा दिल कह रहा था कि आप आ रहे हैं। और आप आते हैं, तो जैसे फूल खिल जाते हैं। दर्द भी आप के डर से सिर छोड़ कर भाग जाता है........"

सुखिया ने टोका—"बेटा डाक्टर मना करा है कि जादा बात चीत से दर्द बढ़ी, भइया हिंयन से जाओ अब।"

इंद्र कुछ सहम गया।

"हाँ अभी तो मैं नहाया भी नहीं हूँ। तुम अब अच्छी हो,—यही जानकर बड़ी ख़ुशी हुई"—कहकर इंद्र बाहर चला आया और उसकी चाची, जो पूजा कर चुकी थीं, अंदर चली गईं।

मुज़फ़्फ़रनगरवाली तो उसी दिन शाम को बाबू रामनाथ के नौकर बुधुआ को साथ लेकर वापस चली गईं।

इन्द्र तीन चार दिन और ठहरा। मम्मी की तबियत बहुत कुछ संभली देखकर उसने जाने का इरादा किया—"तो मम्मी मैं कल सबेरे जाऊँगा।"

"क्यों ?" सुभा ने चौंककर पूछा; स्वर में घबराहट स्पष्ट थी।

"क्योंकि अब आए हुए बहुत दिन हो गए—और......"

"और क्या ? यह किसी ग़ैर का घर है लल्ला जी ?" सुभा ने दीनता के साथ कहा ।

"सो तो मैंने कभी नहीं समझा । और तुम जहाँ भी होगी, वही अपना घर बन जायगा । अपने लोगों की मौजूदगी से ही घर बन जाता हैं । लेकिन बात यह है कि यूनीवर्सिटी जाना है । पहले से तमाम इंतज़ाम कर लेना ज़रूरी है—इसीलिए सोचता था कि..."

"तो जाइए । मैं आपकी उन्नति में बाधक नहीं बनना चाहती । हाँ—अगर आपके लिए कभी कुछ कर सकी, तो अपना बड़ा भाग्य समझूँगी । मेरी शुभ कामनाएँ हमेशा आपके साथ रहेंगी । यूनीवर्सिटी में टॉप कीजिए—मुझे न जाने कितनी ख़ुशी होगी—मैं एकदम अच्छी हो जाऊँगी ।"

सुभा का मुख एकबारगी चमक उठा । लेकिन फिर उदासी आ गई ।

"अब कब आओगे ?"

"जब तुम बुलाओगी । जल्दी से अच्छी हो जाओ तो ख़ुद खाना बनाकर खिलाना—तब जानती हो मुझे कितना अच्छा लगेगा ?"

इन्द्र ने अपनी दोनों बाहों को पूरा पूरा फैलाकर कहा—"इतना ! समझीं ?"

साँझ रात की तरफ़ पग बढ़ाने लगी और दर्द सुभा के सिर की तरफ़ ।

आज शाम के से यह सुख के क्षण, सुभा सोच रही थी, उसने

जीवन में पहले कभी न बिताए थे।

परन्तु जिस गति से गेंद ऊपर फेंकी जाती है, उसी गति से वह नीचे गिरती है।

रात में ही सुभा के सिर में पीड़ा के साथ साथ एक भीषण विषाद का धुआँ सा छा गया। वह कुछ ठीक ठीक सोच और समझ न पाती थी। इसीलिए आज अपनी पीड़ा की बात उसने सुखिया से भी नहीं कही।

दूसरे दिन सबेरे तड़के ही इन्द्र स्टेशन चला गया। भोर की कुछ शीतल वायु से सुभा कुछ सो सी गई थी।

इन्द्र ने नींद उचाटना ठीक न समझा था। इसीलिए वह मर्मी की चारपाई के पास जाकर उसे कुछ क्षण तक एकटक निहार कर चल दिया।

ज्यों ही गर्मी का दिन चढ़ा, सुभा उमस से बेचैन होकर जाग पड़ी। पर उसे ऐसा लग रहा था जैसे वह सोई ही नहीं थी।

सुखिया को भी सुभा की आँखों से ऐसा ही लग रहा था—"बेटी का रात भर जागत रही? आँखिन मै ललाई छाई है; कहूँ पिराय तो नाय आईं?"

"नहीं तो सुखिया"---सुभा ने केवल इतना ही कहा। परन्तु उस का सारा जी जैसे अन्दर से उल्टा पड़ता था।

भावनाओं का उद्वेग दोपहर की तपतपाती धूप की तरह बढ़ने लगा।

उसे रोकने के लिए सुभा ने सिराहने से तकिया उठा कर छाती से लगा लिया; जैसे 'चन्दा मामा' न दे सकने पर माँ बच्चे को हल्की थपकियाँ दे देकर ही सुलाती है।

परन्तु तकिये के मुलायम दबाव से सुभा सिहर उठी। भावना-बाढ़ को आँखों में होकर बह निकलने का खुला रास्ता मिल गया। इन बरसाती आँखों को तकिए में छिपा कर सुभा सिसकियाँ भरने लगी।

सुभा को रोता देखकर सुखिया ने बड़े ही स्नेहसिक्त स्वर में पूछा—"क्या हुआ बेटी ? मूड़ में पीर बढ़ गई का ? बाबू जी का बुलाऊँ।"

सुखिया बाबू रामनाथ को बाहर बैठक में से बुलाने चली गई। सुभा मना ही करती रह गई।

उस बिचारी को क्या मालूम था कि आज की 'मूड़ की पीर' और दिन की पीर जैसी नहीं है।

(४)

बरेली से लौट आने पर कोई पन्द्रह दिन बाद इन्द्र को भुवाली से एक ख़त मिला, जो बाबू रामनाथ ने लिखा था। उससे इन्द्र को पता लगा कि उसके मेरठ से आने के दो तीन दिन बाद ही मामा जी ममीं को लेकर भुवाली चले गए। और ममीं की तबियत में पहले से कुछ सुधरी हुई है। इस पत्र के उत्तर इन्द्र मोहन ने पहले भुवाली के पते पर दो तीन पत्र डाले, और फिर मेरठ के पते पर भी। परन्तु उसे कोई उत्तर नहीं मिला। सुभा का हाल जानने के लिए उसने दो एक और रिश्तेदारों को भी मेरठ पत्र लिखे; लेकिन सब ओर से उत्तर में

'चुप' पाकर वह भी चुप बैठ रहा; मन मारकर।

इसी बीच में वह इलाहाबाद आ गया था।

संगम पर माघ मेला हो रहा था।

सोमवती अमावस का नहान था।

संगम नहाकर कोई चार बजे शाम को इन्द्र होस्टिल लौटा। बहुत घूमने के कारण थकावट काफ़ी थी, इसलिए आते ही गहरी नींद में सो गया।

कमरे का दरवाज़ा खुला रह गया था।

"आपकी चिट्ठी है बाबू!" नौकर भोला की आवाज़ सुनकर इन्द्र हड़बड़ा कर उठ बैठा। अधखुली आँखों से ही बिस्तरे पर एक सरसरी नज़र डाली। सचमुच एक लिफ़ाफ़ा पड़ा था। फाड़ कर उसे खोल डाला। सब से पहले शीर्षक पढ़ा—"प्रिय लल्ला जी।" और फिर अन्त—"आपकी—सादर सप्रेम मर्मी।" और फिर एक ही साँस में सारा ख़त पढ़ डाला। आधा समझ में आया और आधा नहीं।

यूनीवर्सिटी-टावर साढ़े पाँच बजा रहा था।

कमरे में काफ़ी अंधेरा हो गया था। उठ कर बिजली जलाई।

पत्र फिर पढ़ा—

"मेरी तबियत क़रीब-क़रीब ठीक है। अभी कमज़ोरी कुछ बाक़ी है कुछ यों ही सुस्ती और काहिली में आप के पत्रों का उत्तर न दे सकी। पास होने की बधाई भी नहीं भेज सकी।... आप नहीं जानते कि आप के पास होने की मुझे कितनी ख़ुशी हुई। आप का सेकिंड क्लास मेरे

लिए किसी भी प्रकार फ़र्स्ट से कम ख़ुशी प्रदान करने वाला नहीं—इसके उपलक्ष्य में आप का उपहार रखा है। आने पर ही मिलेगा! कोई महीने भर से मैं यहाँ सहारनपुर में माता जी के पास हूँ और अभी रहूँगी।"

इन्द्र को आज पहली बार प्रतीत हुआ कि वह सचमुच परीक्षा में सफल हुआ है। किसी को उसके एक मामूली सैकिंड से भी इतनी ख़ुशी हो सकती है, इसका उसे अनुमान भी न था। मनुष्य को अपने प्रिय की छोटी सी भी सफलता बड़ी भारी विजय के समान ही उल्लसित करती है।

इन्द्र ने पत्र का उत्तर तुरन्त ही लिख दिया।

इधर कुछ दिनों से वह भावुक भी बहुत हो गया था। सुभा को यह उत्तर उसके इसी भावुक मूड में लिखा गया था।

उत्तर में सुभा का सीधा सादा कुशल पत्र आ गया।

इन्द्र ख़त डालता रहा। लेकिन तीन चार पत्रोत्तरों के बाद सुभा ने जवाब देना बन्द कर दिया।

इन्द्र को शङ्का हुई कि कहीं फिर तो तबियत नहीं ख़राब हो गई? लेकिन वार्षिक परीक्षा निकट होने के कारण वह अध्ययन में व्यस्त रहा।

इम्तहान समाप्त होने पर उसने एक पत्र मेरठ डाला, और उत्तर बरेली मंगाया।

घर पहुँचते ही इन्द्र को 'मर्मी' का पत्र मिल गया। यह पत्र

—मर्मी

कुछ अजीब भावुकता से भरा हुआ और कुछ अंशों में रहस्यमय-सा था। इन्द्र इसका सिर पैर कुछ भी न समझ सका।

देने को इसका जवाब तो उसने दे ही दिया, परन्तु फिर अपने पत्र के उत्तर के लिए प्रतीक्षा ही करता रहा।

(६)

मेरठ में मालती के देवर की शादी थी।

इन्द्र मोहन के घर भी बुलावा आया था।

वैसे तो इतनी दूर की रिश्तेदारी में कौन जाता है; चाची की बहन की ससुराल में उनके देवर की शादी—कितनी दूर का नाता था।

लेकिन इंद्र ने सोचा: चलो इसी बहाने मेरठ हो आऊँगा। इस साल तो सारी छुट्टियाँ ही घर पर बीत गईं।

जुलाई भी शुरू हो गई। आज तीसरी तारीख़ है, छठी को वहाँ विवाह है।

और उसने डरते डरते सोचा: शायद मर्मी से भी भेंट हो जाए!

बस यही इरादा करके उसने अपनी माँ से कहा—

"बउआ सारी छुट्टी तो ख़त्म हो गई, मेरठ जाकर चाची से ही मिल आऊँ, फिर तो बहुत दिन बाद मिलना होगा। और इस तरह से मालती चाची के यहाँ भी शादी में शरीक हो लेंगे।"

बउआ ने बिना अधिक आनाकानी के आज्ञा दे दी।

पाँच जुलाई को तीसरे पहर तीन बजे इन्द्र मोहन मेरठ पहुँच गया। मालती चाची के यहाँ सामान रखकर वह फौरन् ही कचहरी रोड गया,

जहाँ बाबू रामनाथ रहते थे।

थोड़ी देर हुई पानी बरसा था। लेकिन अब खुल गया था।

पाँच बजे का वक्त होगा, लेकिन बदली की धूप आग बरसा रही थी।

बड़ी उमस थी। पेड़ का पत्ता भी न हिलता था। इंद्र घर में पहुँच कर सीधा मर्मी के कमरे में गया।

सुभा नहाकर ग़ुसलख़ाने से निकली ही थी। बाल सँवारने जा रही थी।

इन्द्र ने मर्मी को इतना स्वस्थ और चश्मा पहने कभी नहीं देखा था, इसलिए यकायक पहिचान न सका।

सुभा चौंक सी पड़ी—"नमस्ते! आप आ गए—मुझे कितनी याद आती थी...लेकिन यह क्या आप इतने दुबले क्यों हो गए?—क्या किसी की याद में!"

सुभा ने आँचल सम्भालते हुए चुटकी ली।

"हाँ, और तुम तो प्रत्यक्ष ही मोटी हो गई हो—नई नई आँखें चार हुई हैं न!—तो अब तो बिल्कुल अच्छी होगी। यह तो बताओ मेरे ख़तों का जवाब कहाँ है?"—इन्द्र ने प्रश्न किया।

सुभा जिस प्रश्न से डर रही थी, वही एकदम सामने आ गया। वह इसका उत्तर देने के लिए इतने प्रकाश रूप से और इतनी जल्दी तैयार न थी, फिर भी जब समस्या सामने आ ही गई, तो उससे कैसे बचा जाए। कमरे में इस समय कोई तीसरा व्यक्ति नहीं था। यह

जानकर वह बोली—"आपके मामा जी ने कहा—मुझे ज़्यादा ख़तोकिताबत पसंद नहीं है। मैं ही इन ख़तों का जवाब दे दूँगा !"

"तो इसमें हर्ज ही क्या था ? मुझे तो तुम्हारी तबियत के हाल से मतलब था, कोई भी लिख देता। हाँ, लेकिन फिर उन्होंने भी तो कोई जवाब नहीं दिया।"

इन्द्र गंभीर हो गया था।

"और जिस समाज में हमें रहना है, वही हमें संदेहभरी नज़रों से देखता है"—सुभा ने सिर नीचा करके धोती के छोर को अंगूठे में लपेटते हुए किंचित हिचकिचा कर कहा।

"संदेहभरी नज़रों से ! संदेह ? कैसा संदेह ? किस बात का संदेह ?"

इन्द्र सन्नाटे में आ गया।

लेकिन परिस्थिति समझने के क़ाबिल अब वह हो गया था। सब कुछ समझ गया।

"लेकिन इसका कारण ? मेरे पत्रों में तो कोई अनुचित बात थी नहीं ?";

"सो अनुचित बात ही क्या होती ? माता जी, पिता जी, और भाई-बहन सभी लोग तो आपके ख़तों को पढ़ते थे। माता जी की तो आप ख़ासतौर से बड़े अच्छे लगते हैं। वे आपके ख़त का इंतज़ार किया करती थीं। और मुझसे कई बार बुलाने के लिए भी लिखने को कहा था। सुधा तो आपके पत्रों की शैली की बड़ी तारीफ़ करती थी,

लेकिन आपके मामा जी......"

इतना ही कहकर सुभा रुक गई।

"मुझे तुम्हारा जवाब न पाकर इस बार न जाने क्यों कुछ ऐसी ही आशंका होने लगी थी—परन्तु वह स्पष्ट नहीं थी। आज हो गई। फिर भी मुझे ताज्जुब है कि तुम और मैं तो ऐसे पवित्र स्नेह संबंध से बँधे हुए हैं और तिस पर आज जीवन में केवल तीसरी बार मिल रहे हैं, वह भी इतने ऊपरी ढंग से, सारे संसार की नज़रों के सामने! मुझे तो इसमें कोई पाप या दुराचार नज़र नहीं आता!"

इंद्र उदास हो गया।

"पर शक करनेवाले यह सब कब देखते हैं? वे कहते थे कि इतनी देर तक घुट घुट कर क्या बातें होती थीं?"

"तब तुमने क्या कहा?"

"कुछ नहीं। यही कि अपनी पढ़ाई-लिखाई के बारे में।"

"लेकिन मर्मी मैं तो यह समझता हूँ कि यदि मनुष्य स्वयं मन का साफ़ और पवित्र होगा, तो कोई भी उंगली नहीं उठा सकता। हमारे अनजाने ही हमारे आंतरिक भावों का असर दूसरे के दिमाग़ों पर पड़कर ऐसा शक पैदा कर देता है..."

"यह बहुत ऊँची बात है और तभी संभव है, जब हम पर संदेह करनेवाले स्वयं भी संदेह-रहित हों। मैं शक करनेवालों को स्वयं शक की नज़र से देखती हूँ। ऐसे लोगों के चरित्र या तो ख़राब होते हैं या वे चरित्रभ्रष्ट वातावरण में उत्पन्न होने और पलने के कारण दूषित

मनोवृत्ति के होते हैं। कोई भी स्त्री पुरुष यदि तरुण और सुंदर हों और कहीं बातें कर रहे हों, तो संदेह करनेवाले संदेह की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं! जिस 'समाज' से हम डरते हैं और जिसकी हम परवाह करते हैं, वह ऐसे ही लोगों का समुदाय है।"

"ख़ैर, तो मेरा इसमें क्या बनता बिगड़ता है। मैं पहले दो एक ख़त डाल दिया करता था, वह भी अब बंद कर दूँगा।"

आज पहली बार सुभा ने इंद्र को उद्विग्न देखा; बोली—"आप बड़े भावुक हैं। इसमें भी कोई बुरा मानने की बात है। मैं स्त्री-जाति हूँ और समाज का सबसे सरल और सहज संदेह का शिकार; इसलिए डरती हूँ—उन आँखों से बचने की कोशिश करती हूँ। दिल में कुछ भी हो, लेकिन हमारे कार्यों से हमारे दिल की बात नहीं खुलनी चाहिए।"

"यह मानसिक व्यभिचार है। मनुष्य को मन, वचन और कर्म तीनों से सच्चा होना चाहिए। मेरे तो दिल में जो बात होगी, उसे साफ़ साफ़ कह दूँगा। फिर जो भी हो!"

"आप ग़लत सोचते हैं। हमारे समाज में वह निर्मलता और स्पष्टता नहीं हैं जो पूर्ण सत्य के लिए पूरी स्वतंत्रता दे दे। यदि सत्य अपने तीनों रूपों को लेकर समाज में घुसता है, तो भिचकर उसका दम घुटने लगता है। इसलिए उसके जिस और जितने रूपों की भी रक्षा बिना किसी नुक़सान के हो सके, करनी चाहिए।"

"हो सकता है। प्रस्तुत परिस्थितियों में यही प्रैक्टिकल हो। लेकिन

समझदार आदमी का इन परिस्थितियों को मानकर उनके अनुकूल असत्य आचरण करना बुराइयों को पोषित करके सत्य की और आत्मा की हत्या करना है।"

"असाधारण और साहसी लोग जो प्रयत्न करके अपने जीवन का मोह छोड़ सकते हैं, वही समाज की कुरीतियों और प्रतिबंधों के प्रति विद्रोह कर सकते हैं। संभव है आप भी उनमें से एक हों, लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती।"

"तो तुम अब बहस करने में भी बहुत तेज़ हो गई हो--लेकिन अपनी हार तो मानती हो न ?"

"नारी की हार ही उसकी विजय है। लेकिन मैं हारी कहाँ ! अब आप ख़त लिखने का वायदा करें, तो मैं हार मान लूँगी। जवाब ख़ुद ही देने का मैं वायदा करती हूँ।"

"नहीं !"—इन्द्र का दृढ़ उत्तर था।

"नहीं कैसे ! जब मैं तीन चार ख़त डालूँगी, तब क्या शर्मा कर एक का भी जवाब नहीं दोगे ?" सुभा ने इन्द्र को फुसलाने की चेष्टा की।

"नहीं नहीं ! एक बार भी नहीं, आधी चौथाई बार भी नहीं ! भूल कर भी नहीं। मुझे औरतों जैसी न शर्म है और न छिपने-छिपाने की आदत !"

इन्द्र ने पत्र न लिखने के समझौते पर जैसे आख़िरी सील लगा दी। सुभा ने बात बिगड़ती देखकर बात बनाई—"मैं अभी तक झूठ

ही बहका रही थी। मामाजी-वामाजी किसी ने कुछ नहीं कहा था। सच बात तो यह है कि आपके विचार और शैली इतनी ऊँची है कि मैं उसके पासंग के बराबर भी न होने के कारण वैसा जवाब नहीं दे-सकती। सोचती हूँ कि दोस्तों को ख़त दिखा-दिखाकर मज़ाक़ उड़ाओगे,"—कहकर सुभा ने जैसे कुछ संकोच अनुभव किया।

इन्द्र को समझते देर न लगी कि मर्मी केवल मुझे ख़ुश करने के लिए बात बदल रही है; फिर भी वह बोला—"वाह, आपने भी ख़ूब सोचा। तो इसका मतलब यह हैं कि यदि कोई दो लोग बराबर पढ़े-लिखे न हों, तो पत्र-व्यवहार ही न करें? लेकिन—शायद तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारा एक थोड़ी-सी पंक्तियों का पोस्टकार्ड भी मेरे लिए कितना मूल्य रखता था?"

सुभा ने इन्द्र के ऊपर उठे हुए विशाल नेत्रों में उस 'मूल्य' की सीमा नापनी चाही, पर आँखें झपक गईं।

सुभा का मन इतने दिनों के बाँध के बाद फिर बहा जा रहा था। उसने फिर प्रसंग बदला,—"अच्छा देखा जायगा। अब कमरे में गर्मी बहुत है। बाहर चलकर बैठिए। हवा भी आ रही है। साढ़े छै बजने आए।"

सुभा और इन्द्र बाहर आँगन में पड़ी हुई दो चारपाइयों पर अलग अलग बैठ गए। कुछ देर दोनों चुप रहे।

सुभा ने चुप तोड़ी—'अच्छा तो वह आपका फ़ोटो कहाँ है, जो आपके 'ऑल इंडिया यूनीवर्सिटी डिबेट' में फर्स्ट प्राइज़ पाने पर

'हिन्दुस्तान टाइम्स' में छपा था ?"

"एक ही कॉपी मेरे पास बची है—सोचा था श्रीमती सुभाषिणी देवी को भेंट कर दूंगा। पर उनसे अब मेरी लड़ाई हो गई है, इसी-लिए नहीं दूंगा"—इन्द्र ने कहकर मुँह फेर लिया।

"लेकिन देवी जी ने अपने देवता को फिर मना लिया है।"

सुभा अनजाने ही अनायास ही कहने को तो कह गई, लेकिन फिर पलकें नीची हो गई।

"अच्छा यह एक नई ख़बर मालूम हुई। आज पूछूंगा मामाजी से कि वे अब भी रूठ जाते हैं क्या, जो मर्मी को मनाने की ज़रूरत पड़ती है ? और एक फ़ोटो के लिए भी विकालत कर दूंगा। मैं तो यह सम-झता था कि आप उनका फ़ोटो दिल और दिमाग़ दोनों में रखती हैं !"

इन्द्र ने बात को मज़ाक़ में उड़ाना चाहा। सुभा ने अपनी सफ़ाई ख़ुद ही होते देखकर साहस बटोरा और बोली—"और नहीं तो क्या आपका रखती हूँ ? आपका फ़ोटो तो सिर्फ़ टेबिल की शोभा बढ़ाएगा !"

"तो किसी फ़िल्म ऐक्टर का फ़ोटो फ्रेम कराकर रखिए—वह आपकी और आपकी मेज़ दोनों ही की शोभा बढ़ाएगा !"

"अच्छा अब ज़्यादा बातें न बनाइए—फ़ोटो जल्दी दिखाइये, कहाँ है ?"

"मैं देवता नहीं, मनुष्य हूँ। मनुष्य का फ़ोटो चाहिए, तो दिखा दूं !"

"मनुष्य भी न सही, दानव सही; तो क्या मेरे लिए जो हो सो हो !"

"फिर वही, इसका मतलब ?"

"यही कि आप मनुष्य हैं, जानवर नहीं।"

"तो अब ठिकाने पर आ गईं। फ़ोटो तो मालती...... चाची के यहाँ सूट केस में रखा है, कहो तो अभी ले आऊँ ?" इन्द्र ने उठने का अभिनय करते हुए कहा।

"अच्छा ठहरो, तब खाना खाकर जाना। बस ज़रा देर और है। तब तक नाश्ता कर लीजिए।"

सुभा नाश्ता लेने चली गई।

सुभा को नाश्ता रखे काफ़ी देर हो गई, तो बोली—

"खाइये न ?"

"और तुम ?"

"मैं—मैं—मुझे डाक्टर ने अभी परहेज़ करने के लिए कहा है"— सुभा ने बहाना किया।

"हूँ ! लेकिन मैं तो खाऊँगा ही, क्योंकि तुम्हारे हाथों का आज बहुत महीनों के बाद कुछ खाने को मिल रहा है।"

इन्द्र ने खाना शुरू कर दिया। पर वह बड़े बेमन से खा रहा था। उसका जी भी कुछ उचट-सा रहा था। वह जाने के लिए बेचैन हो गया।

तेरस का चन्द्रमा आकाश में उदय हो आया था। उसकी अपूर्ण कला में सुभा इन्द्रमोहन के ललाट पर चित्रित भावों के चित्र देख रही थी।

पुलक कर धीरे-से बोली—"आपका माथा कितना भाव-पूर्ण और सुन्दर है। आप संसार में कोई महान कार्य अवश्य करेंगे!"

सुभा की बड़ी-बड़ी चमकीली आँखों में इन्द्र के ललाट की विशालता नृत्य कर रही थी।

"मर्मी तुम भी कुछ कम भावुक नहीं हो। मुझ जैसी विषम परिस्थितियों और अल्पज्ञान का मनुष्य कर ही क्या सकता है? यह आपकी कामना हो, वह दूसरी बात है!"

"आप हमेशा ऐसी ही निराशा की बातें किया करते हैं। विषम परिस्थितियों में तप कर ही तो मनुष्य सोना बन जाता है।"

सुभा ने उदासीन पर अनुरागसिक्त स्वर में कहा—

"अच्छा तो चलो खाना तैयार है, खा लो। फ़ोटो लेकर अब सवेरे स्टेशन पर आना। मुझे कल सहारनपुर जाना ज़रूरी है। प्रिया लल्लाजी के साथ जाऊँगी। वे कल ही लौट आयेंगे। माता जी कितने ही दिन से बुला रही हैं, आप भी चलिए न?"

"कोशिश करूँगा। लेकिन फ़ोटो आप को नहीं दूँगा।"

"क्यों?"

"क्योंकि वह बहुत सुन्दर है, और तुम—"

"अच्छा, अब चिढ़ाना फिर शुरू कर दिया। जल्दी से चलकर खाना खा लीजिए।"

सुभा और इन्द्र दोनों उठ कर रसोई में चले गए।

❀ *

—मर्मी

(७)

सहारनपुर की गाड़ी सवेरे साढ़े छै बजे ही छूट जाती थी।

इन्द्र कुछ अधिक थका होने के कारण देर तक सोता रह गया। कोई साढ़े पाँच बजे आँख खुली। सोचा स्टेशन दूर है; पहुँचते पहुँचते वक्त हो जाएगा, सो बिना नहाए-धोए ही वह कपड़े पहन कर तैयार हो गया।

सूटकेस से अपना फ़ोटो निकाला और फ़ाउन्टेनपैन से उस पर लिखा—'सस्नेह मर्मी को, इन्द्र।'

स्टेशन पर इन्द्र तांगे से उतर कर खड़ा ही हुआ था कि सुभा भी अपने देवर प्रियानाथ के साथ तांगे से उतरी और लेडीज़ वेटिंगरूम में जाकर बैठ गई। इन्द्र भी उसके साथ हो लिया। प्रिया बाबू पीछे से कुली पर सामान उठवा कर ला रहे थे।

वेटिंगरूम में पहुँचकर इन्द्र ने काग़ज़ में लिखा हुआ फ़ोटो निकाला और काग़ज़ हटा कर कवर सहित उसे मर्मी के हाथ में दे दिया।

सुभा ने कवर खोला—और खुलने के साथ चौंक पड़ी—"उफ़, यह तो देखने में आपसे भी अधिक सुन्दर है?"

कोई एक मिनट तक ध्यान से देखने पर सुभा ने उसे वैसे ही कवर से ढाँक कर बेंच पर रख दिया।

फिर उठाकर देखा और फिर रख दिया।

इस प्रकार तीन-चार बार देखने के बाद सुभा बोली—बोलने में जैसे उसे बड़ा प्रयत्न करना पड़ रहा था और कोई दारुण व्यथा हो रही

थी,—"आप....इसे....अभी—ले जाइए। अब तो बक्स भी बाहर प्लैटफ़ार्म पर बंद रखा है। उसे खोलकर रखवाऊँगी, तो आप के छोटे मामाजी न जाने—क्या समझेंगे ? अब जब आप दो तीन दिन बाद सहारनपुर आएँ, तभी लेते आइयेगा। वहीं ले लूँगी..."

"क्या समझेंगे ! समझेंगे क्या ! समझने की बात ही क्या है ? कोई चोरी से तो आपको दे नहीं रहा हूँ। और न कोई पाप ही कर रहा हूँ, वह देखें और ख़ूब देखें। उन्हें तो मैंने पहले ही दिखा दिया है; और जब पेपर में छपा था, तब तो दुनिया ने देखा था। आप को अपने पास रखने में शर्म लगती हो, तो मेरी ओर से माताजी को दे दीजिएगा; जब मैं स्वच्छ भावना से दे रहा हूँ, तब कोई अकारण ही कुछ नहीं समझ लेगा—"

इन्द्र ने खिसियाकर और सहमकर कहा।

आप फिर वही कल शामवाली बहस खड़ी कर रहे हैं। दुनिया ऐसे ही समझ लिया करती है, बुरा न मानिएगा। इस बार दशहरे पर मेरठ भी आइए,—" सुभा ने फ़ोटो को एकबार और देखकर लौटाने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा।

"अच्छा यहीं रखा रहने दो, ले जाऊँगा।"

इन्द्र के स्वर में रूखापन था। वह डरा कि कहीं मर्मी के हृदय को इससे चोट न लगी हो। उसने सुभा के मुख की ओर दृष्टि फेरी: उसकी आँखें गीली थीं।

"सुखिया मेरे सिर में दर्द हो रहा है। पंखा बंद कर दे"—सुभा

ने अकुला कर कहा।

इन्द्र बाहर प्लैटफ़ार्म पर आ गया। गाड़ी आनेवाली थी। प्रतिपल चहल पहल बढ़ रही थी। इन्द्र का हृदय क्षोभ और ग्लानि से भरा था। भीड़ में अपने को वह चोर की भाँति अनुभव कर रहा था। जो उसे देखता, इन्द्र को यही लगता कि उसकी आँखों में उसके प्रति संदेह है, अविश्वास है। ऐसी संदेहभरी नज़रों से बचने के लिए वह ह्वीलर के बुकस्टॉल पर जाकर खड़ा हो गया। टेबिल पर चुने हुए समाचार और मासिक पत्रों पर नज़र डालता रहा, परन्तु आँखों में ऐसा धुँधलापन छाया था कि कुछ भी न पढ़ सका। स्टाल-सर्वेंट ने पूछा—"क्या चाहिए बाबूजी ! ताज़ा हिंदुस्तान टाइम्स लीजिए ?"

इन्द्र ने बिना सोचे समझे कहा—"हाँ" और एक एकन्नी पर्स से निकालकर दे दी। सारा काम मशीन की तरह हो गया।

उस अख़बार को लेकर वह वेटिंग रूम में पहुँचा जहाँ अभी तक सुभा और सुखिया को छोड़कर और कोई न था। प्रिया बाबू प्लैटफ़ार्म पर चक्कर लगा रहे थे। सुभा आँख बंद किये कमरे के बीच में पड़ी गोल मेज़ पर लेटी थी। इन्द्र ने अख़बार पढ़ने का उपक्रम किया, पर पढ़ न सका। बेंच पर पड़ा हुआ फ़ोटोग्राफ़ रह-रह कर उसका ध्यान बँटाता था और कलेजे को जैसे खींचे ले रहा था।

उसने अख़बार बंद कर दिया और उसकी कई तहों के भीतर फ़ोटो को लपेटा; मानों अपने हृदय की भावना को संसार की सन्देह भरी दृष्टि से छिपा लिया !

कान्तिचन्द्र—
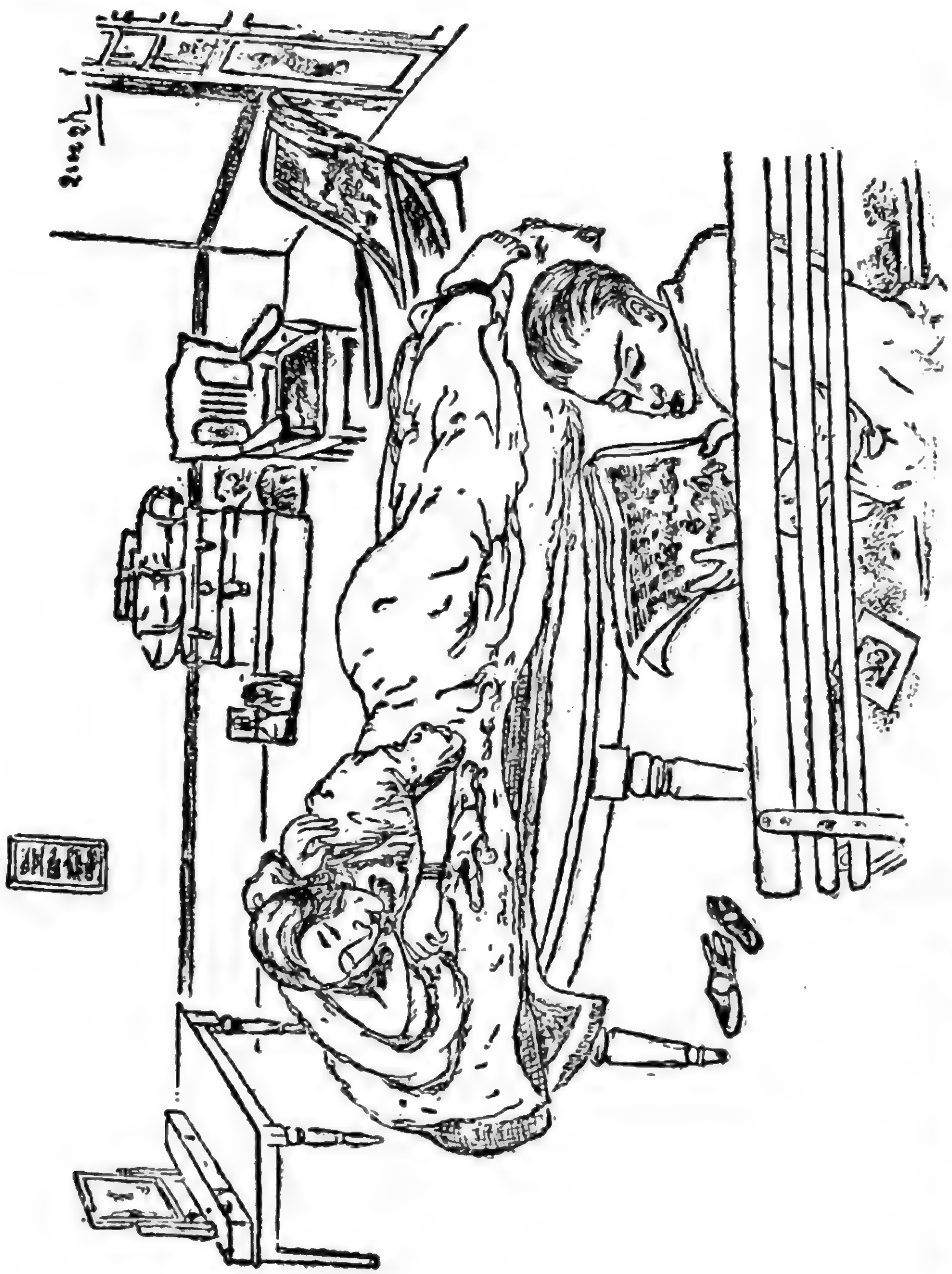
सुभा आँख बंद किए कमरे के बीच में पड़ी मेज़ पर लेटी थी। इन्द्र ने अख़बार पढ़ने का उपक्रम किया।

८

मातृत्व की झलक

प्रयाग] [नवम्बर, १९३८

मातृत्व की झलक

मिस्टर राजकुमार एम० ए० इम्पीरियल सैक्रेटरिएट के रेलवे विभाग में नौकर थे।

गरमियाँ आईं। सकुटुम्ब शिमले चले गए।

बेबी तीन बरस का हो चुका था। पैरों चलता था। उसका लालन-पालन माँ की गोद में नहीं, आया के हाथों में हुआ था।

जन्म के आठ दिन बाद ही ऐलिनबरी का दूध पीने लगा था और महीने भर बाद ऐडवर्ड कवैंटर का !

शैल भला अपना दूध कैसे पिलाती ! सौंदर्य में उतार जो आ जाता।

दूध पिलाना तो रहा अलग, रात में तो भूल कर भी कभी अपने पास नहीं सुलाती थी।

हाईजीनिक सिद्धांतों का शैल बड़ा ध्यान रखती थी। यू० पी० बोर्ड की इंटर की परीक्षा में "चाइल्ड सायकौलोजी" उसका प्रिय वैकल्पिक विषय जो था।

बेबी बड़ा मिनमिना लड़का हो गया था। दिन भर झींकता ही रहता था।

चौबीस घण्टों में मुश्किल से दो-चार बार उसे अपनी मर्मी की गोद नसीब होती थी। इतना होने पर भी वह जब देखो तब शैल को देखते ही आया की गोद में से मचल कर उतर पड़ता था।

शैल निर्ममता से झिड़क देती—"चुप रह कम्बख़्त! हर वक़् गोदी! गोदी! गोदी! गोदी न हो गई जान को एक बवाल हो गई! अभी अभी धुली धोती पहन कर खड़े देर नहीं हुई कि इन्हें गोदी ले लूँ......"

आया "प्रैम" के सहारे चुपचाप खड़ी यह सब सुन रही थी और हैंडिल में अपने नाख़ून गड़ा रही थी। शैल ने उसकी तरफ़ मुड़कर कहा—'और तुम पर तो इसे पाँच मिनिट को भी चुप नहीं रखा जाता। जाओ बाहर लॉन पर ले जाओ।"

आया हाथ-पैर पटकते, रोते-चिल्लाते बेबी को जैसे तैसे बाहर ले जाती।

शैल फिर पीछे से बड़बड़ाती—"इन लोगों को इतना भी शऊर नहीं है। तमीज़ तो छू तक नहीं गई है। हैं तो आख़िर कमीन ही। इनके साथ जितनी भलमंसाहत करो, उतने ही यह सर पर चढ़ते चले

जाते हैं। अभी नहा धोकर ड्रेस करके खड़ी हुई हूँ और अभी उसे लेकर शहज़ादी साहिबा मेरे सामने खड़ी हो गईं, परेशान करने के लिए! आज मि० कुमार ऑफ़िस से लौटेंगे, तो इस पर ज़रूर फ़ाइन कराऊँगी!"

(२)

माल रोड। शाम। सात बजे।

ईवनिंग वॉक के लिए मिस्टर और मिसेज़ कुमार हाथ में हाथ डाले पेवमेंट पर चले जा रहे थे। कोई बीस-बाईस गज़ की दूरी पर आया बेबी को पैदल पैदल ला रही थी।"

बेबी माँ की गोद के लिए व्याकुल होकर चीख़-चीख़ कर रो रहा था—"माँऽऽ माँऽऽ माँ—पास!"

बेबी आया के पैरों में अपने छोटे-छोटे हाथों से कभी घूँसे मारता; कभी उसकी धोती खसोटता।

कुमार और शैल हँसते खिलखिलाते प्लाज़ा में आए अँग्रेज़ी फ़िल्म "मेरी वैल्यूस्का" की समालोचना कर रहे थे।

"कमाल है डार्लिंग! ग्रेटा गार्बो—उफ़ अद्भुत सुन्दरी है—और ऐक्टिंग तो एक ही करती है। कैपीटल, ए वन!"

मि० कुमार ने उत्साह के साथ टिप्पणी की। शैल भी कब पीछे रहनेवाली थी—"रियअली ए वन! रोनॉल्ड कॉलमन—मैं तो समझी नैपोलियन फिर ज़िन्दा होकर आ गया है।"

बेबी के रोने की आवाज़ प्रतिपल कर्ण-कठोर होती चली जा रही

थी। और आया की भी जान आफ़त में थी!

शैल ने मुड़कर देखा—"अरी गोद में उठाकर चुपाती क्यों नहीं जो उसे पैदल घसीट रही है।"

आया वहीं से खीझ कर बोली—"कितनी बार तो गोद में ले चुकी हूँ, पर वह ठहरे तब तो। आपके पास जाने के लिए उतर-उतर कर भागता है।"

और बेबी सचमुच आया का हाथ पकड़ कर उसे माँ के पास घसीटने की कोशिश कर रहा था—"माँ! माँ! माँ पास!"

मां आज बड़ी चमकीली-चमकीली साड़ी पहने थी। बेबी का मन रह-रह कर उसकी गोद में जाने को ललक रहा था।

बेबी को बहुत झींकता देखकर मिस्टर कुमार बोले—"शैल ले न लो!"

"तुम्हीं न ले लो! कोई सूट बिगड़ थोड़े ही जाएगा। बिगड़ भी जाय तो क्या! रुपया तो कौड़ियों के मोल आता है न—, कल दूसरा सिल जाएगा!"

मिस्टर कुमार इस ताने से सहम गए।

राहगीर इस झंझट का तमाशा कौतूहल से देख रहे थे।

दो राहगीरों को, जो आया के बिल्कुल बराबर-बराबर चल रहे थे, बेबी पर बड़ा तरस आया। उन्होंने उसे पैसा देकर फुसलाने की कोशिश भी की।

पर बेबी तो मां की गोद का भूखा था, पैसे का नहीं।

राहगीर इस झंझट का तमाशा कौतूहल से देख रहे थे।

—मातृत्व की झलक
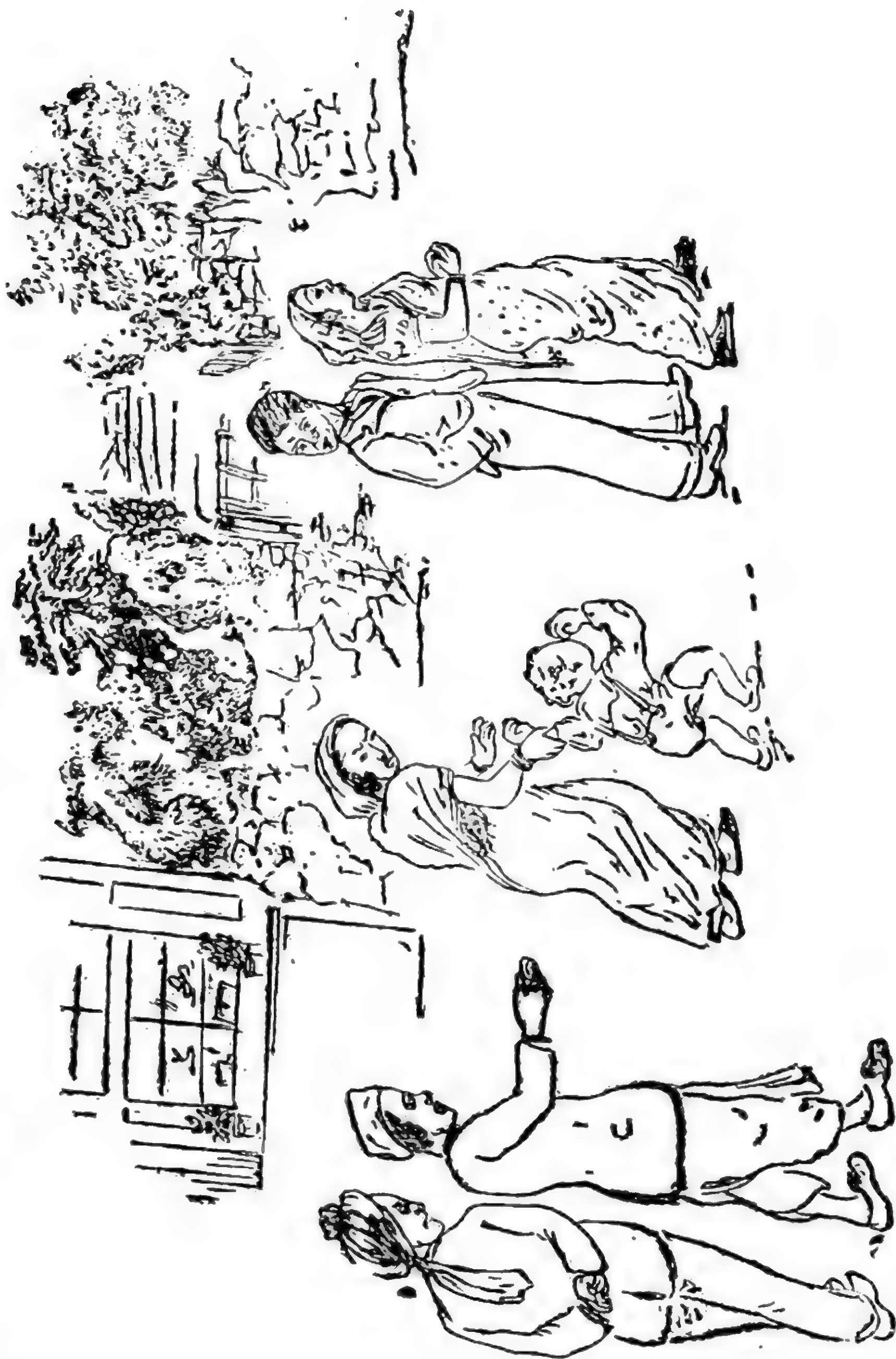
वह चुपा नहीं। और भी मचल गया। शैल को शरम आई। ग़ैरों को अपना बच्चा चुपाते देखकर वह फ़ौरन ही झुँझलाहट में बदल गई!

"तो ला! सुअर को गोदी में चढ़ा लूँ।"

उन्हीं साथी राहगीरों ने आया से कहा—

"तुम्हारी मेम साहब बड़ी संगदिल हैं!"

"अरे, वह इतनी देर से तो रो रहा है। कभी तो बच्चा मा के गोद में जाना चाहेगा ही। ऐसा भी मिटा क्या जो चौबीस घंटे में एक बार भी बच्चे को गोदी नसीब न हो—"

आया धीरे-धीरे बड़बड़ाती और तेज़ी से बेबी को गोद में उठाकर शैल की तरफ़ बढ़ गई।

बेबी मा की गोद पाने की निश्चित आशा से एकदम चुप होकर हँसने भी लगा। कंधे पर से लाल रिबन से बँधी हुई आया की चोटी खींच कर बोला—"जे अच्चा?" और खिलखिलाकर हँसने लगा।

ज्यों-ज्यों बेबी पास पहुँचता जाता था, शैल की झुँझलाहट बढ़ती जाती थी।

कुमार से खिसियाकर बोली—"इसीलिए तो तुम्हारे साथ घूमने नहीं आती। यह बखेड़ा और साथ में लेकर चलो। आज से आने की क़सम खाई..."

"ले लोगी तो क्या बिगड़ जाएगा? अपना ही तो बच्चा है, शरम किसकी?"

आया अभी शैल के पास अच्छी तरह पहुँच भी न पाई थी कि बेबी गोद में से खिसकने लगा था।

और अन्त में उतर ही तो पड़ा।

दोनों हाथ बढ़ाकर हँसकर मा की ओर भागा...

"तड़! तड़! तड़!"

शैल ने कसकर तीन तमाचे इधर-उधर बेबी के फूल से गालों पर रसीद किए!

एक क्षण को बेबी सन्न होकर रह गया!

लौटकर साँस भी नहीं आई।

दूसरे क्षण में चीख़ कर रो पड़ा।

उसके गुलाबी गुलाबी गाल नीले पड़ गए थे।

मिस्टर कुमार ने झपट कर तुरंत ही बेबी को गोद में उठा लिया और छाती से चिपटा लिया।

लेकिन बेबी फिर भी मा की तरफ़ ही हाथ बढ़ाए था।

और मा रानी झल्लाकर तेज़ क़दम से आगे बढ़ गई।

मिस्टर कुमार देखते के देखते रह गए—

और बेबी रोता का रोता!

९

शेफाली

प्रयाग] [नवम्बर, १६३८

शेफाली

इधर जब तीन चार दिन लगातार रात को ग्यारह और बारह बजे के बीच में एक काली-सी छाया को अपने आँगन में से जाते देखा, तो उससे बात अपने मन में मारकर रखी नहीं गई। जिस प्रकार दिन ढलने पर पेड़ों की छाया क्रमशः लम्बी होती जाती है, और आगे होकर बढ़ती सी मालूम होती है, ठीक उसी तरह की एक परछाईं मुनुआ को अपने घर के खुले हुए ज़ीने से निकल कर सड़क पर जाती दिखाई पड़ती।

मुनुआ को तो भूत-प्रेतों में विश्वास न था, लेकिन उसकी बहू लतिका ऐसी बातों में बहुत विश्वास करती थी। सप्ताह में एक बार तो शहर के बाहर जाकर जिन्नवाले पीपल पर पानी ज़रूर ज़रूर चढ़ा आती थी। उमर ज़मींदार के बाग़ में एक मौलसिरी का पेड़ था और उसके

नीचे एक पीर की क़ब्र। काम काज से छुट्टी पाने पर लतिका वृहस्पति-शुक्र इस क़ब्र पर फूल-बताशे चढ़ाना न भूलती थी।

मुनुआ को डर था कि कहीं लतिका उसे कायर न समझ बैठे। हमेशा से तो वह उसके सामने अपनी बहादुरी की डींग मारता आया है और उसकी भूत-परेतों की बातों की खिल्ली भी उड़ाता आया है। उसने कहने की किसी न किसी तरह हिम्मत तो की, लेकिन मन में डर रहा था—"अरी रधिया की माहतारी कोई पिछले तीन दिना से एक काली-काली बाल फकेरे औरत को यहाँ जीना से उतरत देखत हौं। पहले तो मैंने सोची कि अँधियारे को भरम होयगो, पर लगातार आधी रात को तीन दिना से देखत हौं।"

यह कह कर वह सिर पर हाथ रखकर ज़ोर से सोचने लगा—'कछू समझ नहीं पड़त...'

लतिका यह बात सुनकर घबड़ा गई। उसका रंग उतर गया।

उसको तुरन्त ध्यान आया कि कई इतवार निकल गए, लेकिन वह सहालग के काम में इतनी जुटी रही कि जिन्नवाले पीपल पर जल चढ़ाने नहीं गई। जिन्न देवता नाराज़ न हो गये हों—यह आशंका उसके दिल में उठी।

और कुछ पलों के बाद ही आशंका विश्वास में भी बदल गई।

पति से बोली—"लो तुमको तो बिस्वास ही नहीं होत, सब झूठ समझत हौ—देई—देवतन कोऊ झूठ मानत हौ। पिछले तीन ऐत-वारन से जल नहीं चढ़ायो है, तिससे जिन्न जरूर गुस्सा है। मोय

मनौती करन पड़िहै। कहीं मोर रधिया को कछू होय न जाय।"

कहते कहते लतिका भय से उद्विग्न हो उठी।

रधिया को छाती से और कसकर चिपटा लिया, मानों उसकी अकेली बेटी को उससे कोई छीने लिये जा रहा हो।

यकायक मुनुआ की आँखें चमक उठीं। उनमें पौरुष की चिनगारियाँ सी निकलने लगीं।

और अभी तो वह जवान ही था। तीन साल हुए दूसरा व्याह अट्ठाईस बरस की उमर में करके लाया था। और अब एक दो बरस की बच्ची का बाप भी बन गया था। पर उसकी रगों में ख़ून तो गरम था। अपनी कायरता को जैसे भाड़कर पिढ़िया से उठ खड़ा हुआ—"होयगो कोई बदमास काही औरत के भेष में। आज ही रात को लठिया से ऐसी खबर लऊँ कि सब कचूमर निकल जायगो।"

मुनुआ का पुरुषत्व जाग उठा था, पर लतिका में नारी का स्वाभाविक भय वेग से बढ़ने लगा।

"हाय मैं तुम्हारे पैर न पड़ूँ। मोर रधिया की ख़ातिर ऐसो मत करियो। मैं आज ही मनौती करन जाऊँगी",— लतिका ने गिड़गिड़ा कर कहा।

मुनुआ ने लतिका की इस प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया; क्योंकि वह सदा से औरतों को कमज़ोर दिल और रूढ़ियों की दासी समझता आया है।

बरोसी में से हाथ से ही कंडे की आँच निकालकर चिलम में रखी।

हाथ कुछ भुरस गया, उसे ज़मीन से रगड़ता हुआ मुनुआ बोला—"अच्छा चुप रह ! मैं सब भुगतान भुगत लूँगो।"

यह कह कर वह उठ खड़ा हुआ।

और चिलम में दम लगाते हुए छप्पर से बाहर निकल गया।

लतिका डरी हुई मुँह बाए देखती की देखती रह गई।

(२)

मेरा घर तुर्कमान दरवाज़े में है, जो शहर के पश्चिम का आख़िरी मुहल्ला है। धोबी, कुम्हार, लोहार और भिश्तियों की बस्ती अधिक है। मुनुआ कुम्हार का घर मेरे घर से कोई सौ क़दम पर एक गली में है। उस गली में मुनुआ के बाप दादों ने घड़े, कुल्हड़, और शकोरे बना बनाकर ही ज़िंदगी बिता दी थी, इसलिए यह गली 'कुम्हारों की गली' के नाम से मशहूर है। शहर के अधिकांश कुम्हार यहीं इसी गली में रहते हैं।

मुनुआ के पड़ोस में ही कल्लन धोबी का मकान है, जिसका मुख्य द्वार सड़क पर है। इसी मकान से चिपटी हुई मित्रा बाबू की एक दुमँज़िला कोठी है।

मित्रा बाबू के पिता युक्तप्रांत में नौकरी करने चले आए थे। और नौकरी के साथ-साथ उन्होंने कुछ लेन-देन भी शुरू कर दिया था; फलस्वरूप काफ़ी धन जमा कर लिया और मुरादाबाद के आस-पास गाँवों में कुछ हिस्से भी ख़रीद लिए थे।

इस बात को पूरे चालीस वर्ष हो गये।

मरते समय हरिपद मित्रा अपनी ज़मींदारी अपने पुत्र हरेन्द्र मित्रा को वसीयत कर गये थे। उसी से अब उनका गुज़ारा होता था। क्योंकि ज़्यादा पढ़-लिख न सकने के कारण उन्हें कोई अच्छी नौकरी नहीं मिली। बड़े बाप के बेटे थे, टुच्ची नौकरी ज़मींदारी के रहते हुए क्यों करने लगे।

मित्रा बाबू की पत्नी कोई चार बरस हुए दो लड़कियाँ छोड़कर मरी थी।

तब अनिमा तो केवल दो बरस की थी, लेकिन शेफाली बारह की।

घर में औरतों के नाम से सिर्फ़ अब एक हरेन्द्र मित्रा की मा थीं।

उन्हीं ने अनिमा और शेफाली को पाल पोसकर बड़ा किया।

शेफाली को मित्रा बाबू और दुर्गा दादी खोखी कहती थीं। और अनिमा को अनीं!

शेफाली बारह की होने आई थी, लेकिन तब भी मैं उसे उसकी ही कोठी के चबूतरे पर सिर के बाल खोले और केवल एक फ्रॉक तथा जाँघिया पहने घूमते देखता था।

म्युनिसिपल गर्ल्स स्कूल में तब वह शायद चौथे में पढ़ती थी।

स्कूल की बस आती। कभी जूड़ा बाँधे और कभी दो वेणियाँ झुलाते हुए वह बंगाली ढंग से पहनी हुई धोती को झलर-झलर करती हुई कुदक कर उसमें बैठ जाती। इस प्रकार मैं उसे नित्यप्रति स्कूल जाते समय देखता था, वही मेरे भी स्कूल जाने का वक्त था, इसीलिए।

कान्तिचन्द्र—

मेरा उससे कोई विशेष परिचय नहीं था। और न कोई और आकर्षण ही।

हम लोग एक दूसरे को केवल पड़ोसी के रूप में पहचानते थे।

तीज-त्योहार हम लोगों का आपस में आन-जाना रहता था। और साथ ही चलन-व्यवहार भी था।

लेकिन मैं उसकी ओर से इतना अन्यमनस्क था कि कब वह चौदह की होकर पन्द्रहवीं में पड़ी, यह भी मुझे मालूम न हुआ।

शेफाली ने किशोर की देहरी लाँघकर यौवन के प्रकोष्ठ में पग रख दिये थे।

पर मेरे मस्तिष्क में तो बारह बरस की हँसती खेलती शेफाली के शैशव का चित्र ही रहता था।

शेफाली देखने-सुनने में कोई विशेष आकर्षक न थी। ऐसे तो यौवन का भावुक हृदय अपनी उठती हुई नवल उमंगों में सभी किशोरी बालिकाओं को परी और किशोरों को सोने के देश का राजकुमार समझा करता है।

फिर भी शेफाली में एक ख़ास बात थी।

उसके सरल सौंदर्य में बङ्गाल की सुषमा का ओज था, जो उसके मुख पर बिखरा पड़ता था।

गत जुलाई से शेफाली का एक दूर के रिश्ते का भाई निलय मुरादाबाद में पढ़ने के लिए कलकत्ते से आया था।

पहले निलय के पिता भी यू० पी० में ही रहते थे। वे ई० आई०

आर० के डिवीज़नल ऑफ़िस में नौकर थे। उन्होंने मुरादाबाद में तीन-चार मकान ख़रीद लिए थे, यद्यपि उनकी पैतृक सम्पत्ति कलकत्ते में थी। रिटायर होने के डेढ़ बरस बाद ही उनकी मृत्यु मुरादाबाद में ही हो गई थी।

जब निलय की मा गौरी ने मुरादाबाद में अपना कोई सहारा न देखा, तो वे अपने पुत्र और पुत्री नीलम को लेकर कलकत्ते चली गई थीं। और वहाँ जाकर मायके में रहने लगी थीं।

मुरादाबाद की ज़मींदारी की देखभाल उन्होंने मित्रा बाबू पर छोड़ रखी थी। मित्रा बाबू गौरी रानी की मौसी की जिठानी के लड़के थे। इस प्रकार वे गौरी रानी के भाई और निलय-नीलम के मामा होते थे।

मायके में गौरी रानी की अपने भाभी से कम पटती थी, यद्यपि वे उनका दिया नहीं खाती थीं; उनके संरक्षण में अवश्य रहती थीं। इसलिए गौरी रानी को अब अधिक रहना असह्य हो उठा था।

दूसरे मुरादाबाद से मित्रा बाबू ने मकानों का किराया बहाने बनाकर कम या देर से भेजना शुरू कर दिया था।

इन सब परिस्थितियों में पड़कर और ख़ूब सोच समझ कर गौरी रानी ने यह निश्चय किया कि निलय को मुरादाबाद पढ़ने भेज दें। वहाँ के किराए की आमदनी भी अच्छी तरह वसूल होती रहेगी और पढ़ाई-लिखाई का ख़र्च वहीं के वहीं निकल आयगा।

इस प्रकार निलय जुलाई शुरू होते ही कलकत्ते से चला आया और मुरादाबाद आकर मित्रा बाबू के पास रहने लगा।

स्थानीय गवर्नमेंट कालिज खुलते ही उसने अपना नाम नवें दर्जे में लिखा लिया।

इतना सब यह क़िस्सा मुझे निलय से ही मालूम हुआ था। मित्रा बाबू ने निलय से मेरा परिचय करा दिया था। फिर तो हम लोग एक ही क्लास में होने के कारण काफ़ी मिलते-जुलते और बात-चीत करते थे।

निलय देखने में अठारह बरस से कम का न लगता था।

एक दिन मैं उसकी अवस्था पूछ ही तो बैठा। उसने बतलाया—"अभी जून से सोलहवीं लगी है।"

निलय बहुत सुन्दर था।

बड़ी-बड़ी सीप-सी आँखें। दूध-सा रङ्ग। उस पर चेहरे पर ग़ज़ब का भोलापन।

मिलने-जुलने वालों की कौन कहे, रास्ता चलते उसे देख कर ठिठक जाते थे।

गौरी रानी को भी नीलम की सुन्दरता से अधिक निलय के सौन्दर्य पर गर्व था!

(२)

निलय को मुरादाबाद आए अभी आठ ही महीने तो हुए थे।

पर न जाने कौन से पर लगा कर उसके शरीर की कान्ति उड़ गई।

स्वास्थ्य बिगड़ गया।

यहाँ तक कि कुछ डाक्टरों ने कहा थायसिस हो गई।

बीमारी बढ़ती देख कर मित्रा बाबू ने गौरी रानी को कलकत्ते पत्र लिखा।

अकेला लड़का। बुढ़ापे की लाठी। पत्र पढ़ कर गौरी रानी के जैसे प्राण खिंचने लगे। एक पल रुकना भी दूभर हो गया।

कलकत्ते की ज़मींदारी का प्रबन्ध-भार अपने रवि दादा पर छोड़ा और दूसरे दिन सवेरे नीलम को लेकर गौरी रानी मुरादाबाद चली गईं।

निलय को स्कूल से तो बिदा ले ही लेनी पड़ी।

बेटे की उठती हुई जवानी, उस पर यह तुषारपात!

मा-बहन ने तन-मन से सेवा-सुश्रुषा की।

पैसा तो पानी की तरह बहता था। अच्छे से अच्छे डाक्टर का इलाज। क़ीमती से क़ीमती दवाएँ।

बड़ा दिन आया। बड़ी बड़ी आशाएँ। बड़े बड़े अरमान। सूखते हुए पौधे को हरियाली मिली, वह पनपा। काले बादलों में से चंद्रमा फिर निकल आया।

निलय पर से बदली हट गई।

उसने दूसरा जीवन पाया।

और गुलाब सा खिल उठा!

गौरी रानी अपने 'खोखा' को, और नीलम अपने "नीलदादा" को अब किसी तरह भी आँखों की ओट नहीं होने देना चाहती थीं।

वहीं कुछ दूर पर कुम्हारों की गली में एक अच्छा मकान ख़ाली

था। वे उसी को किराए पर लेकर रहने लगीं।

निलय को स्वास्थ्य-लाभ के लिये अभी आराम की आवश्यकता थी, इसीलिये उसने स्कूल जाना आरम्भ नहीं किया।

(४)

फ़रवरी का महीना।

पश्चिमी यू० पी में मेंह और ओले। कड़ाके का जाड़ा, मैं कोई दस बजे नुमायश देखकर लौटा था। अभी बाहर बैठक में अँगीठी के पास बैठकर भाई-बहनों से ग़प्प लड़ा ही रहा था कि "दौड़ियो! दौड़ियो! पकड़ो पकड़ो! चोर चोर!" का शोर सुनकर हम सब लोग एकदम चुप हो गये।

शोर और बढ़ने लगा।

सारे मुहल्ले में जगन पड़ गई।

कोलाहल से जब मेरे भी कान फूटने लगे, तो मैं भी बाहर निकला।

मेरा ख़्याल हुआ कि कोई क़त्ल हो गया।

इतने में शोर गुल को भेदती हुई कल्लन की आवाज़ सुनाई पड़ी—"पकड़ ली! पकड़ ली! अरे चलियो कोई चुड़ैल है......"

चबूतरे से उतरकर मैं भागकर कुम्हारों की गली में पहुँचा। निपट अँधेरा था। दो एक लालटेनें थी, जिनका उजाला भीड़ में ही डूबा जा रहा था।

मैं उचक-उचक कर देखने लगा। कुछ माजरा समझ में नहीं आया।

धक्के खाता और कुहनियों से जगह निकालता हुआ मैं भीड़ के केंद्र की ओर बढ़ने लगा। बीच बीच में पूछता जाता था "भाई कौन है ? क्या मामला है ?"

बड़ी मुश्किल से मैं बिल्कुल केंद्र के समीप पहुँच गया, जहाँ तीन चार आदमी एक गठरी सी बनाये खड़े थे।

एक भिश्ती का लड़का लालटैन ऊँची किए खड़ा था। लालटैन में से मिल की चिमनी की तरह धुआँ निकल रहा था। चारों तरफ़ मिट्टी के तेल की गंध और घुटन-सी फैल रही थी। इसी लालटैन के धुआँधार उजाले में मैंने देखा कि कल्लन और मुनुआ किसी तीसरे शख़्स को जेठ भरे खड़े हैं।

मुनुआ के एक हाथ में लाठी थी। और कल्लन के हाथ में लिपटी कुछ बालों की लटें।

मुझे देखकर मुनुआ जोश के साथ बोला—'आज पकड़ पाई है सासु की चुड़ैल ! जैसे ही जीना में से उतरी कि मैंने लठिया पटकी... मुड़कर उल्टी जीना में भागी...! और कल्लन की दीवार से फिसल कर नीचे कपड़ों के ढेर पर गिर पड़ी !"

अब शोर के साथ कुछ विस्मय सूचक आवाज़ें भी सुनाई पड़ने लगीं—

"हैं यह क्या !"

"सो कैसे !"

"बड़ा ताज्जुब है !"

"...जैसे ही जीना में से उतरी कि मैंने लठिया पटकी,... मुड़कर उल्टी जीना में भागी।"

"अरे राम कलजुग है कलजुग !"

"अँग्रज़ी पढ़ाने का मज़ा देखो !"

"या अल्लाह तोबा !"

भूत किसी जान पहिचान के आदमी में परिणित हो रहा था।

लेकिन पहनावे से तो तुरन्त ही यह निश्चय हो गया कि भूत नहीं चुड़ैल है !

चुड़ैल के हाथ-पैर उल्टे न होकर सीधे ही थे। वह दोनों हाथों से अपने मुँह को छिपाने की भरसक चेष्टा कर रही थी।

सारा सिर और मुख आँचल में लिपटा था।

कल्लन के भाई सल्लन ने एक कठोर झटके से उसका हाथ अलग कर दिया।

कलाइयों की चूड़ियाँ चूर चूर हो गईं।

कहीं कहीं गड़ भी गईं। ख़ून निकलने लगा।

कल्लन ने ज़ोर से धोती का आँचल खींचा। वह चर्रा कर तार-तार हो गया।

सूरत साफ़ हो गई।

सब मुहल्लेवालों ने देखा कि सूरत जानी पहिचाने ही नहीं है, वरन् ऐसा है जिसे वे पन्द्रह बरसों से देखते आ रहे थे।

"हाय हाय !" हिंदुओं ने कहा।

"या अल्लाह !" मुसलमानों ने।

और सब के मुँह बन्द हो गए।

"अरे तो क्या गज़ब हो गया !"—कहनेवाला कोई बेशर्म वहाँ नहीं था।

एक उसे छोड़कर शेष लोगों को यह विश्वास (!) था कि उन्होंने आज तक अपनी ज़िंदगी शर्म और इज्ज़त के साथ निहायत पाक रहकर बिताई है !

एक वही कुलटा थी।

तब फिर इतना शोर गुल क्यों ?

एक वही ज्ञात कुलटा थी !

इसीलिए न ?

इतना गुलगपाड़ा मचा, सो भी मित्राबाबू के घर से दस गज़ की दूरी पर !

परन्तु मित्रा बाबू की नींद नहीं खुली थी।

जब कल्लन सल्लन ने जाकर दरवाज़ा खटखटाया, तब उनकी लापरवाही की नींद आज पहली बार खुली।

हड़बड़ा कर दरवाज़ा खोला—"क्या है ?"

"यह है आपकी खो......"

"कलंकिनी !" मित्रा बाबू ने शेफाली का नया नाम धरा, जैसे वह उसके कलंक को पहले से ही जानते थे।

उनकी सुधबुध एक बार जाग कर फिर सोती सी मालूम हुई।

जूड़ा पकड़ कर उस कलङ्किनी को पलक मारते-मारते अन्दर घर में ढकेल कर उन्होंने दरवाज़ा बन्द कर लिया।

धीरे-धीरे लोग कानाफूसी करते हुए तितर-बितर होने लगे।

रात चुप हो गई।

उसकी इस चुप में शीत थर-थर काँप रहा था।

मावस के बाद पंचमी का चन्द्रमा अपना लाल-पीला विकृत रूप लेकर उदय हो रहा था।

भय से सहमी हुई रजनी धरती से चिपटी जा रही थी।

और उसके आँसुओं से धरती गीली हो गई।

हवा का सनसनाता हुआ एक झोंका।

शेफाली झर-झर कर गिर पड़ी।

उसकी गन्ध आस-पास बहुत दूर तक फैल गई।

लेकिन उसे सूँघ कर लोगों ने ऐसा मुँह बिगाड़ा जैसे मोरी की बदबू हो!

१०

शालिनी, बी० ए०

अलीगढ़] [१९३७

शालिनी, बी॰ ए॰

"नहीं मानती, तो लें तेरी क़सम खाती हूँ, मैंने मां से कह दिया !"

"धत् ! पगली—मेरी क़सम क्यों खाती है ! मैं मर गई तो तेरा क्या बिगड़ेगा ?—यही न कि एक सहेली कम हो जायगी, बस। लेकिन मेरे बाबूजी की तो पाली-परोसी धरोहर चली जायगी !"

"जैसे तू कभी जायगी थोड़े ही—सदा अपने बाबूजी के पास ही रहेगी न ! पन्द्रह दिन बाद शादी हो जायगी—और मुझसे बातें बनाने चली है।"

"अच्छा तो न सही, पर मुझे यह तो बताओ कि तुमने मां से क्या कहा ?"

"यही कि···अच्छा कान में सुनो,"—कहकर शालिनी ने शची के कान में कुछ कह दिया। और फिर खिलखिला कर हँस पड़ी।

"तब फिर मां ने क्या कहा ?"

"मां ने ? मां कुछ भी कहें, लेकिन मैंने तो सोच लिया !"

"अच्छा, तो फिर मुझे भी देखना है कि तू अपनी बात की कैसी पक्की है"—शची ने जैसे भविष्य के अन्धकार में छिपी हुई वास्तविकता को अपने आत्म-विश्वास के प्रकाश में देखा।

"देख न लेना—बड़ी आई देखनेवाली !"—शालिनी के स्वर में कैशोर की चंचलता के साथ यौवन-सुलभ विश्वास और व्यंग की ध्वनि स्पष्ट थी।

शची ने क्षण भर में सोचा—'पगली स्वप्न देखती है—भावुक जो है—जीवन कठोर है, कविता कोमल,' फिर बोली—"हां तो शालिनी, तुमने 'अन्तर्गीत' के कितने पद्य और लिख डाले ?"

शालिनी कुछ भूली-भूली सी थी—कालिज के वातावरण में वह इस समय तितली सी फर फर उड़ रही थी—बात कुछ अधूरी सुनी—'क्या लिख डाला ? ऐसे ? नहीं तो—"

"ऐसे-वैसे नहीं, कविता—कविता !"

"हां, यही कोई दस पन्द्रह और—गाड़ी खिंचती ही नहीं आगे—मन सूना सूना सा रहता है—प्रेरणा जो नहीं होती !"

"हूँ ! तो अब प्रेरणा देनेवाला चाहिए—बस, तो फिर तू बी० ए० पास कर चुकी !"

"अच्छा तो बस कर ! सुनना हो सीधी तरह से तो फ़ाउन्टेन पर चलकर बैठें—"

"चलो !"

और दोनों एक दूसरे के गले में हाथ डालकर बग़ीचे के छोटे और कम चौड़े रास्तों में होकर फ़ाउन्टेन की तरफ़ जाने लगीं—इधर-उधर झुककर किसी फूल, कली या पत्ती को छू लेतीं और फिर जैसे मस्ती में झूमकर आगे बढ़ जातीं। शची बोली—'एक बात बतलायेगी शालिनी, बड़ी कवयित्री बनी है–क्या कली खिलने न खिलने के लिये स्वतन्त्र है ?"

"हूँ ! तो अब तुम्हारे भी पर जमने लगे। यह कविता कब से करने-लगीं—और वह भी फ़िलासफ़ी से भरी हुई !—क्यों क्या कोई इंस्पि-रेशन देनेवाला मिल गया है ?"

"तुम्हें सब कोई अपना जैसा दिखता है, जैसे ख़ुद कालिज के लड़कों में कविता खोजा करती हैं न, वैसे ही—"

"तो तुझे क्या बुरा लगता है—तुझे कौन मना करता है ?"

"मुझे !—कली के खिलने की परवशता ! संसार की यथार्थता, प्रकृति के अटूट और शाश्वत नियम !"

और चलते-चलते शालिनी यकायक रुक गई—"चलो ड्राइङ्गरूम में चलें—मेरा मूड ख़राब कर दिया तूने।"

"चलो न ! तुम्हें अपने 'मूड' पर भी वश नहीं है—और बातें स्वतन्त्रता की करती हो !"

शालिनी जैसे झुंझला गई। चल दी—

"मैं भी चलती हूँ—भागी क्यों जा रही हो—"

और शची भी भागकर शालिनी के साथ ड्राइङ्गरूम में चली गई।

× × ×

कान्तिचन्द्र—

ड्राइङ्गरूम में शाम पहले ही आकर अन्धेरे की कर्टेन डालकर चली गई थी।

शालिनी ने बिजली का बटन दबाया—एक बार उजाले के लिये और दूसरी बार नौकर के लिये।

"परसू, चाय बनाओ जल्दी से।"

परसू चला गया चाय बनाने।

शची अब तक एक सोफ़े पर बैठकर 'लीडर' पढ़ने लगी थी। शालिनी ने उसकी तरफ़ एक बार जैसे चिढ़कर देखा और फिर दूसरे सोफ़े पर बैठ गई—ऐसे, जैसे उसका भारी मन भारी मन की तरह ही गिर पड़ा हो ज़मीन पर।

शालिनी चुप बैठी रही, पर उसका भारी मन गिरकर गतिशील हो गया था, गिरने की स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही तो थी। सोचने लगी, सोचने की ही गति से—'यह सब कुछ नहीं होगा—नहीं हो सकता। मेरी तबियत—मेरा मन—शरीर मां-बाप ने दिया है—मन नहीं—इच्छाएँ नहीं—आकांक्षाएँ नहीं—हृदय नहीं—कुछ नहीं—कुछ नहीं—अगर मशीन कपड़ा बुनती है—तो कपड़ा तो मशीन का नहीं हो जाता—कपड़ा होता है उसका, जो उसका मालिक होता है—या उसका, जो मालिक हो जाता है—मां-बाप मशीन हैं—इससे ज़्यादा नहीं—बिल्कुल नहीं—मेरी आत्मा—विश्वात्मा उस अनन्त शक्ति एक परमात्मा का अंश—मेरी आत्मा का ही मेरे शरीर पर अधिकार है—मैं चाहती हूँ पढ़ूँ—पढ़ने के लिये ईश्वर ने मुझे बुद्धि दी है—क्यों न

पढ़ूँ—मुझे रोकनेवाला है कौन ? बी० ए० क्या एम० ए० करूंगी—नहीं नहीं, डाक्टर बनूंगी—शची—शची—दक़ियानूसी समाज में पली हुई यह शची समझती क्या है मुझे ! जलती है मुझ से—अपनी जलन से आदमी ख़ुद ही जल जाता है, वह दूसरों को क्या जलाएगा ! और मेरे बाबूजी कितने अच्छे हैं—एकदम 'माडर्न कलचर' के—वे तो कहते हैं कि तुझे लंदन भेजूंगा पी० एच० डी० के लिए—हां, मर्मी ही एक अड़चन हैं—वे ही बाबूजी के कान भरती हैं—भरती हैं तो भरा करें—आज तो मैंने साफ़-साफ़ कह ही दिया है—बी० ए० करूँगी—करूँगी—"

तीसरी बार 'करूँगी' कहकर अपने प्रलापको प्रतिज्ञा में परिणित करे-करे कि मर्मी ड्राइङ्गरूम में घुसते हुए बोलीं "शालिनी आज कहां रही शाम से—वह इस वक्त के लिये कुछ नाश्ता नहीं बनाया तूने—मठरी ही सेंक लेती—नौकर के किये क्या होता है—तुम ने चाय मँगाई—खाने को भी तो कुछ चाहिये था—सो मैंने नौकर से कहा कि चाप ही बना ले जल्दी से। आलू तो तरकारी के लिये उबले ही रखे थे। और वह परसू तो बुद्धू है एकदम। नया-नया आया है, क्या जाने तुम्हारे यह चाय-टोस्ट और चाप-वाप—सब गड़बड़ कर दिया है उसने—कच्ची हल्दी और लाल मिर्च भर दीं उसमें—चल कर तुम ठीक करो !"

शालिनी के विचारों की तूफ़ान मेल जैसे जंकशन आने के पहले ही डिस्टैण्ट सिगनल पर रुक कर खड़ी हो गई—और एक बार धीरे से

सनसनाई—"शची आ गई थी"—और फिर ज़ोर से—"तो मैं क्या करूं, कोई ऐक्सपर्ट सर्वेण्ट नहीं रखा जाता तुम से। गाँव से गँवारों को ही पकड़ बुलाती हो। मैं तो अभी ड्रैस कर चुकी हूँ—चौके में नहीं जाऊँगी—किलनर के यहाँ से पेस्ट्री और क्रीमरौल मँगवा लो और एक डिब्बा रोस्टैड पीज़ का—हाँ और क्रीम क्रेकर भी।"

शची की नज़र अख़बार से यकायक हट कर माँ-बेटी के सम्वादों पर जा टिकी थी। उसने जाते जाते शालिनी की मां को कहते सुना—"लड़की तो बिगड़ी जा रही है। जल्दी ही हाथ पीले करने पड़ेंगे!...."

× × ×

शची मैट्रीक्यूलेशन पास करते करते पूरी युवती हो गई—सोलह बरस की। सुगठित अङ्गों पर कोमलता बिखरी हुई थी—न जाने कितनी मीठी कल्पनाएँ उनमें सोई हुई थीं—जैसे जगने पर आँखों में सुनहले स्वप्न सोए रहते हैं!—और दिन में आकाश में रूपहरे तारे। उस मधुर रजनी के आने पर जिसमें तारे चमचमा उठते हैं, जीवन के उस रहस्य मय अन्धकार के आने पर, जिसमें आशाएँ जगमगाने लगती हैं—सृजन सम्पन्न होता है—वही मधुर रजनी शची के जीवन में भी आ गई थी। सिन्दूर उसकी मांग में खिल उठा था।

शची एक बहुत बड़े जागीरदार की बेटी थी, बल्कि कहना चाहिए कि उसके पिता ठाकुर द्विजेन्द्रपालसिंह एक छोटे-मोटे राजा थे। उसकी ससुरालवाले कुँवर सज्जनसिंह भी कुछ कम हैसियत के आदमी नहीं थे। पच्चीस गांवों के अतिरिक्त उनका मकान एक सुदृढ़ गढ़ी के सदृश

कानपुर शहर से उत्तर में कोई पाँच मील दूरी पर बना हुआ था। चार-छै हाथी हमेशा ही बंधे रहते थे; गाय, बैल, भैंस और घोड़ों की तो कुछ तादाद ही न थी। चाहे कोई सवारी करे या न करे, बुड्ढे से लेकर बच्चे तक के लिये एक-एक घोड़ा रिज़र्व रहता था। सईस और नौकरों का काम तो मुफ़्त की रोटी तोड़ना, पड़े-पड़े ऊँघना, मस्ती की छानना भर था और बस! जाति के ठाकुर थे ही। इसलिये मधु लात्रय—हाला, प्याला, और बाला—को भी उचित सम्मान प्राप्त था!

जहाँ कुँवर साहब के यहाँ यह सब वाजिदअलीशाही लखनवी नफ़ासत और नज़ाकत थी, वहाँ उसमें पाश्चात्य सभ्यता भी ऐसे ही थी जैसे अलीगढ़-कट पायजामा और शेरवानी के ऊपर सोला हैट!

कुँवर साहब के चार पुत्र थे और चारों ही लन्दन से बैरिस्ट्री पास कर आये थे, किन्तु प्रैक्टिस करने की ख़ातिर कचहरी जाना वे अपना अपमान समझते थे, वैसे तो जायदाद और ज़मींदारी के झगड़ों में जो दूसरे-तीसरे जाना पड़ता था, वही क्या कम था!

सब से बड़े साहबज़ादे के साथ लन्दन की एक सम्भ्रान्त महिला, जो वहाँ एक होटल में वेट्रैस थीं, हमेशा के लिये भारत घूमने चली आई थीं। दूसरे सुपुत्र साहसपूर्वक पेरिस की एक शाप-गर्ल को अपनी गढ़ी दिखाने लाए थे, लेकिन फिर वे उनकी स्थायी मेहमान हो गईं, हालांकि घर पर उनके एक देशी मेज़बान भी थीं, जो महलों में झोपड़ों के से दारुण दुख सहती थीं।

तीसरे और चौथे सुपुत्रों ने 'सु' को वास्तव में सार्थक कर दिया

था। जिस सम्पन्नता में वे उत्पन्न हुए थे, उसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया था। तीसरे पुत्र चित्रकला में प्रवीण थे और 'रायल इन्स्टीट्यूट आफ़ आर्टस्' से एक सम्मानित डिग्री भी प्राप्त की थी। सब से छोटे ज्योतिसिंह जी को साहित्य से विशेष प्रेम था, और कुछ कविता भी अँगरेज़ी में करते थे! शची इन्हीं की जीवन-सङ्गिनी बन कर आई थी।

दोनों छोटे भाइयों ने गढ़ी छोड़ कर अपनी-अपनी कोठियां अलग-अलग बनवा ली थीं और शान्तिपूर्वक रहते थे।

एक दिन शाम को कुँवर ज्योतिसिंह ने कचहरी से लौट कर शची को एक लिफ़ाफ़ा दिया। उस पर प्रेषक का नाम था—'शालिनी, एलगिन रोड, इलाहाबाद।'

शची ने आतुरता से पत्र खोला और पढ़ने लगी।

बैरिस्टर साहब ने पूछा—'यह शालिनी कौन हैं?'

"इतनी जल्दी भूल गए"—कह कर शची ने फिर पत्र पढ़ना आरम्भ कर दिया। पत्र काफ़ी लम्बा था—'भाट की पगड़ी' जैसे हो।

उसे पढ़ते-पढ़ते शची कभी मुस्करा देती, कभी उदास हो जाती, और कभी माथा सिकोड़ कर कुछ सोचने सी लग जाती थी!

शची के पल-पल पर होते इस भाव-परिवर्तन से बैरिस्टर का कौतूहल उत्सुक हो उठा। पत्र एकदम उन्होंने शची के हाथ से छीन लिया। वह अवाक् रह गई! दूसरे ही क्षण झल्ला कर बोली—"हर समय हँसी अच्छी नहीं लगती जी!"

बैरिस्टर ने एक लम्बी "हूँ" भरी और शची के दोनों हाथ पकड़

कर उसे कोच पर बिठा दिया और बोले—'नाराज़ क्यों होती हो माई मिनिस्ट्रिङ्ग ऐंजिल ! आख़िर यह शालिनी है कौन ?"

"आप से मतलब ?"

"कुछ नहीं—योंही, ज़रा योंही—क्योंकि तुमसे मतलब है न !"

"तब ज़रा धीरज धरो, पूरा ख़त पढ़ कर बतला दूँगी—" शची ने आश्वासन दिया।

"नहीं, मैं तो अभी—अभी—ख़त पीछे—अभी बतलाओ !"

"तो मैं नहीं बतलाती—नहीं बतलाती !"

"तो मैं भी ख़त नहीं देता—जाओ मौज करो।"

तीन-चार मिनट दोनों चुप रहे। शची मन ही मन घुटी जा रही थी और बैरिस्टर साहब अपनी विजय की आशा में मन ही मन मुस्करा रहे थे।

"तो नहीं दोगे ?"—शची ने ही मौन तोड़ा।

"नहीं ?"—बैरिस्टर हिमालय की तरह अचल रहे।

"ब्याह में मनोरमा ने परिचय नहीं कराया था क्या ?"

"उसने तो न जाने किन किन से परिचय कराया था—कुछ गिनती भी हो—शकुन्तला, सत्या, सावित्री, सुशीला, लीला, उमा, रमा, कमला, विमला, उर्मिला, निर्मला, शर्मिला—यह, वह—प्लेंटियों ही तो थीं तुम्हारी सहेलियाँ !"

"उफ़ ! वही तो एडवोकेट साहब की लड़की..."

"इलाहाबाद में एक एडवोकेट हैं ? सारा इलाहाबाद ही उनसे

भरा पड़ा है—यहाँ तक कि हमारी राय तो यह है कि इलाहाबाद का नाम ही बदल कर एडवोकेटाबाद रख दिया जाय !"

"फिर वही, बात को लेकर उड़ने लगे—पूरी बात तो सुन लो ! मिस्टर रंजीतसिंह की पुत्री जो क्रास्थवेट में सेकण्ड ईयर आर्ट्स् में पढ़ती है। मेरी वह परम सहेली..."

"हाँ हाँ बस करो ! सहेली न होती तो पत्र ही क्यों आता ! लेकिन यह तो बताओ कि शक्लोसूरत, क़द्दोक़ामद में कैसी और कितनी हैं ! —तब तो याद करूँ कि कौन सी हैं ?"

"मैं उसे कभी फ़ीते से नापने तो बैठी नहीं थी—यही ठिगनी-ठिगनी तो है—क़द में मुझसे छोटी—सत्रह वर्ष की—बहुत सुन्दर और......"

"और क्या तुमसे भी ज़्यादा सुन्दर ?" बैरिस्टर ने बीच में ही फिर टोका।

"हां हां मुझ से भी अधिक सुन्दर ! और वह कविता भी बड़ी अच्छी करती है—उसकी कवितायें अख़बारों में छपती हैं—अख़बारों में !"

"हूँ ऐसी बात ! तब तो वह पोइट भी हैं—वन्डरफुल—! रोमैंटिक ! मुझे पहले से मालूम होता, तो तुमसे शादी न कर उसी से करता; क्योंकि मैं भी तो पोइट हूँ ! कैसा अच्छा 'कपिल' बनता, क्यों ?"

"तो अब हविस पूरी कर लो; वह अभी क्वारी ही है। कहती है शादी बी० ए० पास करके ही करूँगी। और तुम्हीं एक पत्नीव्रत रहकर

क्या करोगे ? तुम्हारे भाइयों के भी तो दो-दो, तीन-तीन हैं ही...!"

"अच्छा तुम नाराज़ होती हो—तो रहने दो ! अब मैं कभी विवाह नहीं करूँगा—कभी नहीं ! अब कुछ कुछ समझ गया हूँ कि तुम्हारे दोस्त की—ओह आइ ऐम सॉरी—तुम्हारी सहेली की सूरत कैसी है, पर उस दिन वह कैसी साड़ी पहनकर आई थी !"

"तब तक डायरी आपने मुझे मोल लाकर नहीं दी थी, जो उसमें रंग नोट कर लेती...फिर भी"—जैसे याद करके वह बोली—"शायद आसमानी रंग की क्रेप की साड़ी वह पहने थी।"

"ओह ठीक ! अब तो मेरे इमैजिनेशन में उसकी तस्वीर बिलकुल साफ़ और सच्ची है—मुझे लग रहा है—वह मेरे सामने ही खड़ी है—बड़ी बड़ी आंखें—लम्बी-लम्बी—दुबली-दुबली—गोरी-गोरी—ठिगनी-ठिगनी—मोटी-मोटी कुछ कुछ सांवली-सांवली सी—चुन्दी-चुन्दी सी आंखें, है न वही !

"बस रहने दो—हर वक्त मज़ाक, हर वक्त मज़ाक !"

"तो क्या लिखा है उसने ?—वह तो बतलाया ही नहीं तुमने !"

"लिखा है कि मेरी शादी के लिए कुछ बेवकूफ़ आदमी बहुत पीछे पड़ रहे हैं—उनमें प्रमुख हैं एक बैरिस्टर साहब।"

"तो उनसे कह दो कि शची की तरह वे ख़ुद बेवकूफ़ी न करें ! शादी वादी में कुछ नहीं रखा है। और मेरा बस चलता तो तुम्हें भी तलाक़ दे देता—अच्छा तो लो मैं चला !"

"जाओ न—यहाँ परवाह किसे है तुम्हारी !"

"श्रीमती शची ज्योतिसिंह बार-ऐट-ला को।"

कहकर हँसते-हँसते बैरिस्टर साहब कमरे के बाहर चले गये।

और शची सोच में बैठी रह गई। उसने पत्र एक बार फिर पढ़ा। समाचार था कि वह एफ़० ए० सेकिंड डिवीज़न में पास हो गई है। मम्मी शादी के लिए पीछे पड़ी हैं, पर वह अपनी अड़ पर दृढ़ है। 'वे' विश्वविद्यालय से अभी-अभी एम० ए० करके पी० सी० एस० के कम्पीटीशन में बैठे हैं। सफलता की पूरी पूरी आशाएँ हैं! लेकिन वह चाहे मर जाय—बी० ए० पढ़ेगी—ज़रूर पढ़ेगी और तभी शादी करेगी!

× × ×

"आज दो वर्ष होने आये, पर शालिनी ने न तो मेरी ही चिट्ठियों का कोई उत्तर दिया, और न कुछ उसका कोई और समाचार ही मिला कहीं से। शकुन्तला को लिखा था—सत्या को लिखा था—सावित्री को लिखा था—पर सब की सब अपनी-अपनी गृहस्थी में जाकर जैसे सारी दुनिया को बिल्कुल भूल गई हैं! ज़िन्दगी भी क्या अजीब है यह। शादी हो जाने पर तो हम औरतों के लिये पति और सन्तान के अतिरिक्त जैसी सारी दुनिया मर जाती है। इससे तो शालिनी लाख दर्जे अच्छी है। अभी वह इन झंझटों से दूर ही रही है, उसे अपनी और इस दुनिया की तो खबर रहती है······" शची सोफ़े पर बैठी-बैठी सोचने लगी। आज इतने दिनों बाद उसे शालिनी की यकायक याद आ गई थी। बैरिस्टर साहब की प्रतीक्षा में बैठी थी वह। जून की गर्मी

और लू के झोंके। शाम के छै बज चुके थे, किन्तु आग तब भी बरस रही थी। बैरिस्टर पांच बजे ज़रूर आ जाते हैं, इसलिये चाय तैयार रहती है उस वक्त। शची चाय लिये बैठी थी, किन्तु वे अभी तक लौटे नहीं थे—सोफ़ा और चाय—शाम का वक्त—शालिनी के ड्राइङ्गरूम की याद उसे आ गई थी—उसकी मम्मी ने कहा था तभी कि लड़की बिगड़ी जा रही है, जल्दी से हाथ पीले करने होंगे। और अब तो उस बात को भी तीन बरस होने आए। समय न जाने कहां सरक गया। अब तो बी० ए० का इम्तहान भी इसी साल दे लिया होगा—जाने नतीजा अभी तक निकला कि नहीं...!"

इतने में ही बैरिस्टर साहब कचहरी से लौट आए। पसीने में सराबोर मोटर से उतर कर वे सीधे शची के कमरे में पहुँचे।

रूमाल से मुँह पोंछते हुए एक लिफ़ाफ़ा शची की गोद में फेंका—"लो तुम्हारी शालिनी जी का पत्र आया है। मालूम होता है कुम्भकर्ण की छाया में सो गई थीं! तीन बरस बाद चिट्ठी भेजी है। ऐसी ही सहेलियां हैं बस आपकी, और हमसे शान बघारा करती हैं आप!

शची ने 'उनकी' बात सुनी अनसुनी करके जल्दी से पत्र खोला और पढ़ने लगी। लेकिन यह क्या—कुल चार-पांच लाइनें—

"मैं आ रही हूँ। पच्चीस तारीख़ की शाम को चार बजे तूफ़ान मेल से कानपुर सेन्ट्रल पहुँचूंगी! स्टेशन पर मिलना ज़रूर ज़रूर—वरना घर तलाश करने में दिक़्कत होगी, भूलना नहीं। और बातें मिलने पर होंगी। इतने दिन की चुप्पी के लिये माफ़ी मांगती हूँ।"

कान्तिचन्द्र—

"और आज तारीख़ है चौबीस। लो कल ही आ जायगी वह!" ख़ुश होकर शची बोली।

"कौन? क्या आप की सहेली मिस शालिनी बी० ए० यहां आ रही हैं—यहीं—बिल्कुल यहीं—मेरे घर—तब तो बड़ी आफ़त है—और तुम तो जानती हो कि मैं उस दिन तुम्हारे सामने ही शादी न करने की क़सम खा चुका हूँ—तब?"

"तब क्या—आप जैसे तो तीन सौ साठ उसके पैरों की धूल चाटते हैं—समझे!"

'तब क्या वे लम्बी हैं, जो लोग उनके पैरों तक ही पहुँच पाते हैं?"

"नहीं तो ठिगनी हैं आप के लिए?"

"मेरे लिये ठिगनी हैं, ठीक है—तब मैं पैर क्यों चाटूंगा! मैं तो ..."

"अच्छा तो फिर वही मज़ाक—मज़ाक! कल शाम को तीन बजे ही कोर्ट से लौट आना सीधे घर। मैं तैयार रहूँगी स्टेशन चलने के लिये। चाय पीकर ठीक साढ़े तीन बजे यहां से चल देंगे—याद रखियेगा?"

'और कुछ हुक्म है मेरी पैटीकोट गवर्नमेन्ट का?"

"अच्छा अब आप जाकर कपड़े उतारिये—नहाइए!"

बैरिस्टर साहब अपने ड्र`सिङ्ग रूम में चले गये। और शालिनी के आने पर कैसा लगेगा! क्या-क्या बातें होंगी—पिछले दिनों की यादें फिर से स्कूल का वातावरण—और शालिनी में तो अभी भी वही

चंचलता, वही बचपन होगा—कालिज में जो है, इसीलिये; और उसके लिये क्या-क्या ख़ास खाने बनवाने हैं—इसी सोच-विचार में डूबी हुई शची वहीं बैठी रही।

दूसरे दिन—

अपनी नई फ़ोर्ड में बैठ कर शची और ज्योतिसिंह ठीक पौने चार बजे स्टेशन पहुँच गये।

शची जाकर लेडीज़ वेटिंग रूम में बैठ गई और बैरिस्टर साहब प्लेटफ़ार्म पर चहलक़दमी करने लगे! और सोचते जाते थे—शालिनी की तस्वीर मन में खींच रहे थे—'मुझ से क़द में छोटी और निहायत ख़ूबसूरत! नीले रंग की क्रेप की साड़ी—और—और क्या? पोइट—पोइट ठीक ठीक!''—वे बार-बार इस वृत्तान्त के अनुरूप शालिनी की तस्वीर बनाने की कोशिश करते, पर हर बार वह किसी न किसी ख़ोमचेवाले की 'पान बीड़ी सिगरेट!'—'गरम चाय!'—'गरम दूध!'—'बढ़िया पूरी कचौरी!'—'लखनऊ की रेवड़ी'—'लखनऊ के ख़रबूज़े!' की ध्वनि से ठेस खाकर बिगड़ जाती। फिर भी किसी प्रकार बहुत कोशिश कर कराके उन्होंने एक निश्चित रूप निर्मित कर ही लिया था कि आने वाली ट्रेन की तेज़ सीटी से वह भी एकदम हवा हो गया।

ट्रेन की धड़धड़ाहट सुनकर शची भी वेटिंग रूम से निकल कर आ गई।

गाड़ी रुकी।

कान्तिचन्द्र—

एक सेकिंड क्लास में से शालिनी उतरी और उसके पीछे-पीछे एक और सज्जन भी। इसके बाद एक नौकर उतरा, जो एक शिशु को गोद में लिये हुए था। कुली सामान उतारने लगे। बैरिस्टर साहब एक ओर मुँह फेरे पास ही खड़े थे।

शालिनी बोली—"ओह शची आ गईं! नमस्ते! अच्छी तो हो! और तुम्हारे 'वे' कहाँ हैं?"

"हां—'वे' यह हैं"—कहकर उसने नज़र से बैरिस्टर साहब की तरफ़ इशारा किया। बैरिस्टर ज़रा सकपकाए और झेंपे से पीठ करके खड़े हो गये।

"हां और शालिनी, बी० ए० का नतीजा नहीं आया क्या तेरा अभी?"

"आ तो गया। पास भी हो गई। डिग्री भी मिल गई! देखोगी—लो"—मुड़ कर परसू को आवाज़ दी—'परसू विजया को इधर तो ला!"

विजया को गोद में लिये हुए परसू आया।

शालिनी ने उसे गोद में लेकर शची की तरफ़ बढ़ाया। अवाक् शची ने गोद में लेने के लिये हाथ बढ़ा दिये।

शालिनी बोली—"लो यह है मेरी बी० ए० की डिग्री। इसका नाम है विजया! शादी आई० ए० के बाद ही हो गई थी—जब मैंने वह पत्र लिखा था तुम्हें—पर बुलाया शर्म के मारे नहीं—बिना बी० ए० किये शादी जो कर रही थी" और खिलखिला कर हँस पड़ी।

आश्चर्यचकित शची ने ऊपर नज़र दौड़ाई—मांग में सेन्दूर

चमचमा रहा था; और फिर नज़र सीधी पैरों पर पहुँची ! चप्पलों में से छोटे-छोटे बिछिए चमक रहे थे।

शची को इस तरह सोच में पड़े देखकर शालिनी उन नये सज्जन की तरफ़ इशारा करके बोली—"यह मेरे देवर कैलाशपति हैं। ला पढ़ रहे हैं इलाहाबाद में ही !"

शची ने अब तक अपने को सम्हाल लिया था। हँसकर बोली—"तो यह विजया वास्तव में तुम्हारी पराजय है ? है न ?"

शालिनी लजाकर हँस दी।

११

चौराहा

प्रयाग] [नवम्बर, १९३८

चौराहा

स्टेशन से जो सड़क सीधी बड़े बाज़ार को जाती है, वह कितनी अच्छी है, इसका अनुभव उस सड़क पर से गुज़रनेवाले सभी लोगों को हो जाता है। दचकों के मारे सारी कमर का कचूमर निकल जाता है, रीढ़ की हड्डियाँ तक हिल जाती हैं। जो लोग इस सड़क पर रहते हैं और इसके प्रतिदिन के जीवन से परिचित हैं, वे ही जानते हैं कि इस पर कितना ट्रैफ़िक है। मोटर, ताँगें, इक्के, साइकिल, ठेले, बैलगाड़ी, पैदल। और उसपर पाँच वर्ष से सड़क की सिलसिलेवार मरम्मत नहीं हुई। म्यूनिसिपैलिटी के पास इतने रुपए नहीं कि वह सारी-की-सारी स्टेशन-रोड उधेड़ कर फिर से कोलतार की बनवाए। आए दिन सड़क पर कहीं-न-कहीं पैबंद लगते ही रहते, और हर तीसरे दिन उस पैबंद की टीपटाप ख़तम हो जाती। फिर वही गड्ढे के गड्ढे !

ठेकेदार रामासरे की आमदनी का सिलसिला जारी था। अगर वह कहीं भूल से एक बार भी मज़बूती से गड्ढे भरवा दे, तो उसका व्यापार ही चौपट हो जाय। यद्यपि सारी सड़क नए सिरे से बना देने में उसे इकट्ठी आमदनी हो जाती है; पर वह तो ज़िन्दगी-भर के लिए काम का सिलसिला लगाए रखना चाहता था। म्यूनिसिपैलिटी में स्टेशन-रोड के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव कुछ नहीं तो छः बार आ चुका था; लेकिन रामासरे कुछ साधारण हथकंडों का आदमी नहीं था। ठेकेदारी का पेशा तो उसका मौरूसी था। अपने जीवन के तीस बरसों में उसने इस पेशे के दाव-पेंचों में सिद्धि प्राप्त कर ली थी। प्रस्ताव एक बार भी पास न हो सका।

इसी सड़क पर स्टेशन से लगभग एक मील की दूरी पर एक चौराहा है, जो 'चौराहा शाहकमाल' क नाम से मशहूर है। यहीं पर एक पतली सड़क, जो अन्दर छीपीटोले को जाती है, और एक सँकरी गली में आकर मिलती है। इसी गली में शाह और कमाल की दो क़ब्रें हैं। यह 'तकिया शाहकमाल', कहलाता है। आस-पास मुहल्लों की बूढ़ी दादी, नानी तथा अम्मा अपने बच्चों की नीरोगता और बड़ी उमर की खातिर जुमा-जुमरात को फूल और दूध-बताशे इस चौराहे पर चढ़ाती हैं। कभी-कभी मंगल-शनीचर को सिन्दूर, मसूर की दाल और न-जाने क्या-क्या चीजें यहाँ प्रातःकाल चढ़ी दिखाई देती हैं।

इस चौराहे पर प्रतिदिन एक-न-एक दुर्घटना होती ही रहती है।

आज इक्का-साइकिल की टक्कर, तो कल साइकिल से सड़क पर नङ्ग-धड़ङ्ग खेलते तीन-चार बरस के बच्चों में से किसी का पिच जाना और परसों नुक्कड़ पर रहनेवाले बतुआ पासी के घर की कलह, भाई-भाई में मूड़-फुटौवल, सास-बहू में गाली-गलौज, चचा-भतीजे में तनातनी आदि इस चौराहे के रङ्ग मंच पर होते ही रहते हैं। 'हाय तोबा', 'मार डाला' की ध्वनियों के साथ ही इस रङ्ग मंच पर मिनटों में टिड्डी-दल की तरह भीड़ इकट्ठी हो जाती है और फिर 'भीड़ क्यों लगाई है ?' 'क्या कोई तमाशा है ?' 'चलो अपने-अपने घर को।' 'रास्ता साफ़ करो !' चीख़-चीख़ कर चौराहे का सरदार नबी फटकारने लगता है, तो भीड़ हवा में तिनकों की तरह तितर-बितर हो जाती है। मुहल्ले में झगड़ा-बखेड़ा खड़ा करने और शान्त करने की कुञ्जी नबी की मुट्ठी में रहती है। बच्चा-बच्चा उसकी आवाज़ पहचानता है।

चौराहेपर इधर गरमियों में अनगिनती गड्ढे हो गए थे। धूल ही धूल हो गई थी। आसपास रहने वाले दो-चार पढ़े-लिखे शरीफ़ आदमियों ने म्यूनिसिपैलिटी में दरख़ास्त दी कि चौराहा शाहकमाल की मरम्मत कराई जाय; पर उन भद्र पुरुषों की भद्र आवाज़ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों के झगड़े में डूब गई। किन्तु नबी कब चुप बैठनेवाला था। वह अभी तक बहुत ग़म खा चुका था। उसके चौराहे की यह हालत हो गई और वह टुकुर-टुकुर बैठा देखा किया। अभी तक किसी की मजाल न थी कि चौराहा शाहकमाल की शान में उँगली भी उठा जाए। आज तक तो उसने अपनी नाक पर कभी मक्खी भी बैठने नहीं दी।

शहर में ऐसे बड़े-बड़े झगड़े हिन्दू-मुसलमानों में हुए; पर उसके चौराहे पर तो क्या, पास पड़ोस के मुहल्ले में चूँ तक नहीं हुई। साइकिलों की मरम्मत करता था, पर शहर के कलक्टर और कोतवाल के यहाँ हर इतवार को वह बड़े शऊर से मिलने जाता।

चौराहे की मरम्मत न होती देख, उसने अपने हल्क़े के म्यूनिसिपल-कमिश्नर को ख़ूब खरी-खोटी सुनाई। यदि इसी आनेवाली बरसात में चौराहा शाहकमाल ठीक न हुआ, तो वह म्यूनिसिपैलिटी में आग लगवा देगा। नबी की बात आज तक तो टली नहीं थी। रामासरे ठेकेदार को ठेका मिला। चौराहे पर जुलाई की पहली तारीख़ को ही मदद लग गई।

× × ×

गधों पर लद-लद कर कंकड़ आने लगा। 'कड़ कड़ड़ कड़'। सड़कों के किनारे कंकड़ झोलियों में से उँडेला जा रहा था। आठ बजते-बजते रामासरे ठेकेदार का काम शुरू हो गया। कुदाली की पैनी और रूखी पर कुछ ठन से गूँजती हुई 'खर ठक' 'खर ठक' की आवाज़ आने लगी।

मनही तुलसी और कीरत ने अपनी-अपनी कुदालें उठा कर खुदाई शुरू कर दी। परसादी फावड़े से कंकड़ खोद रहा था। तब तक जीसुख को काम पर आया न देख कर ठेकेदार बोला—"क्यों रे कीरत, आज जीसुख अभी तक क्यों नहीं आया? सूरज सिर पर चढ़ने को आया, उस सुसरे का अभी तक सबेरा ही नहीं हुआ?" वह मनही के

और नज़दीक बढ़ आया, "और तूने सबेरे से कितनी खुदाई की? डेढ़ गज़ भी नहीं! सालों को रोटी लग गई है! रोज़ हिसाब से मजूरी की पाई-पाई मिल जाती है न!"

तुलसी ने जवाब दिया—"लालाजी, सभी के यहाँ हारी बीमारी लगी रहती है। कल संझासे ही जीसुख की देह गरम हो रही थी..."

कीरत ने बीच ही में अपनी बात जोड़ी—"चार दिन से मजूरी नहीं मिली, इसी से लगता है कि कहीं और जगह काम देखने गया है।"

मनही को ये सब कारण ठीक नहीं जँचे, बोला—"सरकार, बस आना ही चाहता है। जी तो अच्छा ही है। घर में कल से लंघन हो रहा है। बनिए ने उसको उधार देना भी बन्द कर दिया है, कहीं नमक-आटे का परबन्ध करने में देर हो गई होगा।"

मनही के बात समाप्त करते न करते जीसुख आ गया। लाला जी की आँखें लाल-पीली हो गईं। जीसुख आते ही हाथ जोड़े गिड़गिडा कर बोला—"आज किसना बड़ा भूखा..."

लाला जी ने गरज कर कहा—"चार आने रोज़ की मज़दूरी पर यह नवाबों के से नख़रे, क्या कहने हैं! चल जल्दी से काम पर लग जा—"

झिड़की खाकर जीसुख सहम गया। आँखों में आँसू छलछला आए। कुछ सुबकता हुआ-सा बोला—"अन्नदाता, कुछ पैसे मिलें, तो गुजर हो जाय...तीन जून से चूल्हे में आग नहीं पड़ी है।"

लाला जी ने आश्वासन दिया—"अच्छा, दोपहर को तेरी मज़दूरी बेबाक़ कर दूँगा।"

दूसरी टुकड़ी चौराहे से कोई दो सौ गज़ आगे चल कर कुट रही थी। वहाँ खुदाई कल दोपहर को ही हो चुकी थी और कंकड़ भी शाम तक पड़ गया था। दुरमुठों की 'दुर-मुठ', 'दुर मुठ' शुरू हो गई थी। ठेकेदार साहब उधर देखभाल करने चले गए। जीसुख के सिर से जैसे भूत उतरा। एक ओर सड़क के किनारे पिछौड़ा रख कर परसादी के पास पहुँचा, जो सुसताने के लिए चिलम में दम लगा रहा था।

परसादी ने एक गहरा दम खींच कर जीसुख को चिलम पकड़ाई—"अरे जीसुख भैया, क्या हुआ? लाला जी बड़े गुस्सा थे; पर तुमने भी तो बड़ी देर लगाई!"

जीसुख इस बात का उत्तर देकर फिर अपने घर की गाथा दुहराना नहीं चाहता था। उसे क्लेश होगा और अभी काम बहुत करने को पड़ा है। दोपहर के बाद कुटाई करनी है। तब तक अगर खुदाई और बिछाई दोनों न हो जायँ, तो ठेकेदार के सामने मज़दूरी मांगने को मुँह कैसे पड़ेगा, इसलिए उसने बात टालने की कोशिश की।

"परसादी, तेरी चिलम जब देखो तब ख़ाली ही रहती है। तमाखू सब जर गई"—कहकर उसने वहीं एक तरफ़ चिलम उड़ेल दी। एक छोटी-सी कंकड़ी उठाकर चिलम में रखी और परसादी से तमाखू माँगी "तमाखू ला।" परसादी ने अपनी धोती की फेंटमें से जीसुख को तमाखू

निकालकर दी। इतने में मनही, कीरत और तुलसी भी चिलम भरी जाती देख, एक-एक दम लगाने के लिए आ पहुँचे।

ग़रीब आदमी कठिन कामों से पाए कष्ट तथा यातना को चिलम के दम में या तो ख़ून के घूंट की तरह पी जाने की कोशिश करते हैं, या फिर उन्हें अपना प्रारब्ध समझकर चिलम के धुएँ में उड़ा देते हैं। इससे उनको आगे काम में जुट जाने के लिए शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त होती है।

चिलम भर गई। जीसुख ने जल्दी-जल्दी दो-चार दम लगाकर तमाखू पूरे ताव पर ला दी और फिर तुलसी की तरफ़ चिलम बढ़ाकर कहा—"भला भैया, अब मैं काम पर जाऊँ। नौ बजे होंगे। ठेकेदार ने देख लिया, तो खून कर डालेंगे", जीसुख ने अपनी कुदाल उठाई और एक साँस लेकर खुदाई करने चला।

तुलसी को तो चिलम की लत थी। वह हाथ में आ जाती, तो वह उसका सारा दम खींच कर ही छोड़ता। कीरत को जब काफ़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर भी चिलम नहीं मिली, तो झल्ला पड़ा—"कुछ हमारे लिए भी छोड़ोगे कि नहीं?" और यह कहते-कहते उसने तुलसी के हाथ से चिलम छीन ली। मनही अब तक चुप खड़ा था। वह चिलम पीने के लिए आया है, यह भी उसे याद न रहा। उसे बराबर यही ख़याल आ रहा था कि जीसुख इस समय भूखे पेट कुदाल चला रहा है। और उसके पास एक धेला भी नहीं है, जो चने ही मँगाकर पानी पिला दे।

बरसात की धूप की तेज़ी भी मनुष्य की भूख की तरह बढ़ती और जाड़ों के दिन की तरह घटती है। कल सबेरे से जीसुख पानी पीकर ही रहा है, यह बात मनही से छिपी नहीं थी। बात यह है कि मनही जीसुख के पड़ोस में ही रहता था। उसे यह भी मालूम था कि जीसुख की बहू किसोरी के किसना के पेट भरने को भी दूध नहीं उतरता। जवानी का शरीर, उस पर बच्चेवाली। खाने को न मिले, तो दूध क्या ख़ून का बने ? किसना को पैदा हुए पाँच महीने होने को आए ; पर किसोरी अभी पनप नहीं पाई। हरीरा पंजीरी तो उसने सपने में भी नहीं देखा था; पर गाय का दूध भी तो उसे सौर में नहीं मिला। पनपती भी तो कैसे ? किसना पहलौंठी का लड़का था ; पर बिल्कुल अधमरा और सूखा हुआ। पेट भरने को माँ का दूध भी करम में लिखाकर नहीं लाया था। मनही ने सोचा, 'अरे करम होता तो जीसुख के ही कंगाल घर में आकर क्यों पैदा होता ? किसी सेठ-साहुकार के यहाँ न जनम लेता !' जीसुख को चार आने रोज़ मिलते हैं। उसमें खानेवाले तीन जने। तीनों में से एक का आधा पेट भी भरता था या नहीं, कौन जाने !

किसना के पेट में आने से पहले तो किसोरी जिनिंग फ़ैक्टरी में मशीन पर रुई ओटने जाया करती थी तीन आने रोज़ पर। उसमें भी महीने के तीस दिनों में चार इतवार की छुट्टियाँ कट जातीं। इसके सिवा यदि कोई तीज-त्योहार और आ पड़े, तो उस सौभाग्य का दुर्भाग्य भी मजदूरिनियों को ही सहना पड़ता था, लेकिन किशोरी फिर भी कुछ-

न-कुछ पैदा कर ही लाती भर। पेट दो प्राणियों को भोजन मिल जाता ; पर जबसे किसना हुआ है, उसका फ़ैक्टरी जाना असम्भव हो गया। किसना को किसके सिर पर छोड़ जाती। घरमें सास-ननद हो, सो भी तो कोई नहीं। जीसुख और किसना ही उसके संसार में सब-कुछ थे; पर जीसुख का जी कभी सुख में था, इसमें मनही को बड़ा सन्देह था।

इधर चार दिन से ठेकेदार ने मज़दूरी रोक रक्खी थी। रोज़ कुआँ खोदना, रोज़ पानी पीना। जीसुख के घर भूखों मरने की नौबत आ गई। अगर मनही ने दो रुपये से जीसुख की मदद न की होती, तो शायद वह किशोरी और किसना को ले कहीं डूब मरता, क्योंकि उसके पास तो ज़हर खाने को भी पैसे नहीं थे। इस बार तो बनिए ने भी उधार नहीं दिया। उसके पहले के ही कई रुपए जीसुख पर चढ़ रहे थे। अभी परसों ही की तो बात है कि बड़े इंजीनियर ने बीरपुरा की सड़क की कुटाई नापसन्द की थी। मगर रामासरे ठेकेदार उनकी और ओवरसियर की मुट्ठी गरम न करता, तो उसके बीस हज़ार पर पाला पड़ जाता। लेकिन सिर्फ़ इसीलिए मज़दूरों के दस पाँच रुपए रोक लेने से उसकी न तो कोई ख़ास बढ़ती हो गई और न कोई बड़ा काम ही सधा होगा—मनही का कुछ ऐसा ही विचार था।

मनही सोच-विचार में ऐसा डूब गया कि उसे काम करने का ध्यान ही न रहा। अब तक कीरत चिलम का सारा दम खींच चुका था। अब जब वह ठंडी होने आई, तो मनही की ओर बढ़ाकर बोला—"अरे यार क्या सोचता है ? ले चिलम पी—ठंडी हो रही है।"

मनही ने चिलम की गरमी उँगलियों से टटोली। उसमें कुछ गरमी पाकर उसने एक घूँट निकालना चाहा; पर सूखी खाँसी ही आई। कीरत को जवाब देते समय कुछ धुआँ भी उसके मुँह से निकला—"लाला, ज़रा भी रहम नहीं करते। हमारी, तुम्हारी और तुलसी की तो बात ही और है। मेरे यहाँ तो लुगाई, लड़के दोनों मजूरी करते हैं और तेरे यहाँ भी। तुलसी के भी कमानेवाले हैं। मजूरी नहीं मिली तो क्या, रोटी तो मिल ही जाती है; पर जीसुख भैय्या...." मनही का स्वर एकदम धीमा हो गया, और फिर कीरत ने कहा—"हाँ, हाँ, भैय्या जीसुख की दशा बड़ी वैसी है। लाला ने दुपहरिया की छुट्टी में मजूरी देने का बचन दिया है।"

"दें तब जानना...." मनही ने उदास होकर कहा।

कुदालियों की 'खर-ठक' 'खर-ठक'। कंकड़ों की 'कड़-खन' 'कड़-खन'। मनही, जीसुख, तुलसी और कीरत की कुदालियाँ चल रही थीं और परसादी फावड़े से कंकड़ सकेल-सकेल कर बिछा रहा था।

तीन बजे। जेठ की आग बरस रही थी। ज़मीन तवा-सी जल रही थी। दुरमुठों से चौराहा-शाहकमाल कुट रहा था। 'दुरमुठ!' 'दुरमुठ!' 'दुरमुठ!' 'दुरमुठ!'...

परसादी, कीरत, तुलसी और मनही के दुरमुठ ज़ोर ज़ोर से उठते और गिरते थे; पर जीसुख का दुरमुठ धीरे-धीरे थका-सा चल रहा था। 'दुर' होकर मुठ' की ध्वनि कुछ समय देकर उठती 'दुर...मुठ, दुर... मुठ'...

पाँचों-के पाँचों पसीने में नहा रहे थे। बार-बार हाथों से पसीने की धारें पोंछ-पोंछकर सुखाते; पर वह तो सोते से निकलते हुए जल की तरह बहती ही आती थी। धूप की तेज़ी से ओठों पर पपड़ियाँ जम गई थीं। बार बार उन्हें जीभ से गीला कर रहे थे। इतने में कुछ ठंडी हवा आई। तुलसी ने ऊपर आँख उठाकर देखा। पश्चिम से बड़ा काला बादल उठा आ रहा था। सबके मन हरे हो गए। कीरत ने 'दुर-मुठ' 'दुर-मुठ' के ताल पर तान छेड़ी :—

"सिगरे अंग पसीना चूअत
नयनन बहे पनार रे !
कंकड़-पत्थर खोदत कूटत
बही रकत की धार रे !

तुलसी, परसादी, मनही ने स्वर-में-स्वर मिलाया :—

नयनन बहे पनार रे !
कंकड़-पत्थर खोदत कूटत,
बही रकतकी धार रे ऽऽ—"

जीसुख लालाजी के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। एक बजे आने को कह गए थे। चार बजने को आए, किसना भूख से बिलख रहा होगा। किसोरी राह देखती होगी— जीसुख सोच में डूबा हुआ था। एक-एक पल उसे भारी हो रहा था। वह चुप ही रहा। कीरत ने आगे तान ली ही थी और स्वर ऊँचा ही किया था कि इतने में ही मनही ने देखा कि जीसुख लड़खड़ाकर गिर रहा है। दुरमुठ एक ओर जा पड़ा। वह

झपटकर पहुँचा ; पर तब तक जीसुख कंकड़ों पर गिर पड़ा था। कुटते-कुटते कंकड़ दब गए थे, इसलिए कहीं ज़्यादा चोट तो नहीं आई, पर वह तमाम कीचड़ में सन गया था। मनही ने उसे फ़ौरन अपनी गोद में उठा लिया और उसकी आँखें चढ़ती देख चिल्लाया—"हाय-हाय, मर गया—मर गया—दौड़ो...दौड़ो..."

नबी ने साईकिलका ट्यूब निकालकर उसमें पंक्चर देखनेके लिए हवा भरी ही थी कि उसे वैसे ही छोड़कर भागा। झटपट जाकर जीसुख को मनही की गोद से ले लिया और अपनी दूकानकी छाया में ले आया। पलक मारते-मारते भीड़ इकट्ठी होने लगी। 'क्या हुआ ?' 'क्या हुआ ?' कोई कहता, 'अरे लू लग गई।'—'गरमी के मारे बेहोश हो गया है।' 'जल्दी से पानी के छींटे दो।' 'अरे बरफ़ रखो बरफ़...!'

भीड़ और भनभनाहट इतनी बढ़ गई कि हवा का आना भी बन्द हो गया। नबी ने एक चारपाई घर में से मँगाई और सावधानी से जीसुख को उस पर लिटा दिया। फिर भीड़ हटाने के लिए ललकारा—"अरे कोई तमाशा है। भागो, चलो—हवा आने दो"—कहते-कहते उसने चार-पाँच बच्चों के चपतें भी जड़ दीं। चपतें खाकर लड़के-लड़कियाँ भाग चले। और लोग भी वहाँ से हटने लगे। पाँच मिनटमें मनही, कीरत, तुलसी, परसादी और नबी तथा उसके कुछ मित्रों के अतिरिक्त वहाँ और कोई न रहा।

जीसुख का चेहरा प्रतिपल पीला पड़ता जा रहा था। आँखें बन्द थीं। दाँती मिंची हुई, साँस धीमी-सी—

17

नबी ने साइकिल का ट्यूब निकाल कर उसमें पंक्चर देखने के लिए हवा भरी ही थी कि उसे वैसे ही छोड़कर जीसुख की ओर भागा—

मनही ने कपड़ा भिगोकर मुंह पोंछा और कुछ पानी मुंह खोलकर अन्दर डालनेकी कोशिश की। मुश्किलसे चार-छः बूदें जीसुखके कंठ तक पहुँच सकीं।

चार बज रहे थे। ठेकेदार साहब छतरी लगाए, दुपट्टेसे कान ढँके चले आ रहे थे। दूकानपर भीड़-सी देखकर वे खड़े हो गए। वे खड़े हुए ही थे कि नबी ने झपटकर उनकी गरदन दबोची, मानो बाज़ ने कबूतर को पकड़ा। लालाजी की आँखें निकल पड़ीं। कीरत और तुलसी ने मुश्किलों से लालाजी की गर्दन नबी के पंजों से छुड़ाई। नबी ने ओंठ चबाते हुए आँखें तरेरकर कहा—"पैसे के कुत्ते! हरामज़ादे कहीं के! मज़दूरों का पेट काटता है—ख़ून चूस लूँगा ख़ून! जानता है चौराहा शाहकमाल के नबी को!"—कहकर वह बिजली-सा चमककर उठा और ठेकेदार की कमर पकड़ी। एक बसनी उसके हाथ में आई, जिसमें कुछ कम पचास रुपए थे।

लालाजी बोले—"हां, हाँ, मैं अभी इसकी मजूरी दिए देता हूँ। मैं सबेरे दस बजे ही दे रहा था; लेकिन बड़े इंजीनियर साहब के यहाँ ज़रा देर हो गई।"

लालाजी ने बसनी की तरफ़ हाथ बढ़ाया, जिसे नबी ऐसे दाबे खड़ा था, जैसे बिल्ली चूहे को।

"तो भाईजान, कुछ रुपए इसमें से कीरत के हाथ जीसुख के घर भिजवा दो। उसकी बहू खाना बना कर रख लेगी। मैं तब तक डाक्टर को बुलाए लाता हूँ।"

रामासरे ठेकेदारे के हाथ-पैर ढीले हो गए। उन्हें अपनी समस्त ठेकेदारी की ज़िन्दगी में ऐसा अवसर न पड़ा था। बोले—"अरे तुलसी, बढ़कर तू ही ताँगा ले ले। डाक्टर तो आता नहीं दीखता। इसे अस्पताल ले चलें—"

नबी, तुलसी, परसादी और ठेकेदार जीसुख को ताँगे में अगली सीटपर लिटाकर अस्पताल ले गए।

× × × ×

एक नीची खपड़ैल की कोठरी, जिसमें भूख से बिलखते-बिलखते किसना सो गया था। किसोरी बारह बजे से ही बैठी इन्तज़ार कर रही थी—अब आते ही होंगे। ऐसी ही व्याकुल प्रतीक्षा वह आँखों में लिए बैठी रही। पहाड़-सी गरमी की दुपहरी कट गई—बैठे ही बैठे। चार बजते ही मनही आता दिखाई पड़ा। वह उत्सुकता से दरवाज़े से उठ कर खड़ी हो गई, बोली—"वे क्यों नहीं आए ?"

"अरे उसका ज़रा जी ख़राब हो गया था। अब सुधर गया..." कहकर मनही ने घबड़ाई हुई किसोरी को आश्वासन दिया। वह आटा-दाल, नमक-मिर्च, दूध, चीनी आदि बाज़ार से लेता आया था। एक मैले अँगोछे में बँधी हुई इन चीज़ों को और दूध के कुल्हड़ को किसोरी के हाथ में देते हुए मनही ने कहा—"ये सामान खाने को भेजा है। थोड़ी देर में आता है। रोटी बना कर रख ले।"

× × ×

शाम को साढ़े सात बजे जब नबी अस्पताल से लौटा, तो उसने

अपनी अम्मा से पूछा—"तेरी याद में भी कभी आज से पहले इस चौराहे पर कोई मौत हुई थी ?"

"नहीं तो बेटा ! आज मैं ऐसी बात पहली ही बार सुन रही हूँ। लोगों के सर टूटे, हाथ-पैर टूटे—सब करम हुए ; पर चौराहा शाह-कमाल पर किसी की मौत नहीं हुई !"

और उसी समय सेंकी हुई रोटियाँ कठौती से ढक कर; चूल्हे में पानी डाल, रोते हुए किसना को गोद में लिए किसोरी दरवाज़े पर बाट जोहती खड़ी सोच रही थी—'वे अब आते होंगे, अब आते होंगे...'

समाप्त

मुद्रक—आर० डी० श्रीवास्तव, शारदा प्रेस, नया-कटरा—प्रयाग